

उतराधिकारी

यशपाल

विप्लव प्रकाशन सं०—२३

उत्तराधिकारी

(पहाड़ी जीवन की रोमाञ्चक कहानियाँ)

यशपाल

Yashpaul

विप्लव कार्यालय, लखनऊ

Viplav Publications
Lucknow

सितम्बर १९५१

Sept. 1951

मूल्य दो रुपये

Rs 2/-

प्रकाशक—
विप्लव कार्यालय,
ल ख न ऊ.

मुद्रक—
साथी प्रेस
लखनऊ.

समर्पण—

गत तीन वर्षों से अलमोड़ा में बिताये अनेक महीनों में सहृदय परिचितों से इस पहाड़ी देश का कुछ परिचय पा कर यह कहानियाँ लिख सका हूँ। यह कहानियाँ अलमोड़ावास की स्मृति में उन्हीं साथियों को समर्पित हैं।

सितम्बर १९५१
डिग्गी बंगला
अलमोड़ा

यशपाल

पृष्ठ

ऐं ! ऐं !! का उत्तर	३
उत्तराधिकारी	६
जाब्ते की करवाई	२५
अगर हो जाता ?	३३
अंग्रेज़ का घुंघरू	४५
अमर	५६
चन्दन महाशय	६५
कुल मर्यादा	७६
डिप्टी साहब	६०
जीत की हार	१०२

"ऐं ! ऐं !!" का उत्तर

कुछ दिन एक बहुत तंग जगह में रहने का अवसर हुआ। सोना, बैठना, रांधना और नहाना-धोना सब एक ही कमरे में था। कमरे में एक ओर दरी-चटाई बिछा कर बैठने की जगह बना ली गई थी। एक कोने में अंगीठी और बर्तन, दूसरी ओर कोने में मोरी के पास बाल्टी और साबुन रखा था।

घर में सात-आठ मास का एक बच्चा भी था। बच्चे की मां सीने-पिरोने में लगी हुई थी। मैं एक ओर बैठा कुछ पढ़ रहा था। बच्चा घोंटू के बल रेंगता बाल्टी-साबुन वाले कोने में जा पहुँचा।

"ऐं ! ऐं !!"—बच्चे का स्वर सुनाई दिया। देखा, बच्चा साबुन की बटिया मुंह में डाल रहा था।

"देखो, देखो !"—बच्चे की मां का ध्यान उधर दिलाया—"साबुन खा रहा है।"

"खायेगा नहीं"—मां ने सिलाई की ओर से आंख नहीं हटाई।

"मुंह में डाल रहा है, जल्दी उठो !"—आग्रह किया।

"नहीं, खायेगा नहीं। ध्यान खींचने के लिये डरा रहा है। उधर मत देखो, छोड़ देगा।"—मां ने आश्वासन दिया।

कुछ विस्मय हुआ। पुस्तक की ओर मुंह मोड़ कनखियों से देखता रहा। बच्चे ने साबुन नीचे डाल दिया और खाली डिबिया से खेलने लगा।

"अब तो सचमुच नहीं खा रहा"—मैंने स्वीकार किया—"बड़ा शैतान है !"

"अब फिर देखना"—मां सिलाई से ध्यान हटा बच्चे से बोली—"हाय साबुन खा रहा है ! ना, ना बेटा ! छि, छी ! ना, यह नहीं खाना।" बच्चा फिर साबुन मुंह में डालने लगा।

बच्चों से निभा पाने के लिये उनका स्वभाव समझना आवश्यक होता है।

× × ×

डा० रामविलास, अमृतराय और चन्द्रबलीसिंह मेरी रचनाओं की दस-दस, बीस-बीस पृष्ठ की आलोचना करते हैं। मैं

इन्हें देखता न होऊं सो बात नहीं। बहुत से लोगों के बारबार आग्रह करने पर भी उनकी "ऐं! ऐं!!" का उत्तर नहीं देता। कारण ऊपर की घटना से स्पष्ट है।

पाठकों का ध्यान आकर्षित करने और अपने नाम की चर्चा सुनने की इच्छा उन में स्वाभाविक है। कब उन की "ऐं! ऐं!!" का उत्तर देना उचित है और कब उपेक्षा करना, यह उनकी 'ऐं! ऐं!!" के तथ्य को परख कर रचनात्मक लेखकों को स्वयं ही समझना चाहिये। राहुल जी ने उपेक्षा ही की। रांगेय राघव ने उनकी इतनी परवाह क्यों की? स्वयं इतनी अच्छी और बेजोड़ चीज़ें लिखना छोड़कर केवल 'अहं' के प्रदर्शन के लिये की गई "ऐं! ऐं!! की ओर ध्यान देना? परिणाम हुआ केवल आदत बिगाड़ना। अब "ऐं! ऐं!!" इतनी बढ़ गई है कि उत्तर देना ज़रूरी हो गया।

× × ×

यह बात नहीं कि पाठक से लेखक सीखता न हो। जनता से ग्रहण की गई भावनायें और प्रेरणायें ही साहित्य बन कर फिर जनता पर बरसती हैं, जैसे वाष्प बन कर पृथ्वी से ऊपर उठा जल बादल बन कर पृथ्वी पर बरसता है। आलोचक को पाठक का प्रतिनिधि ही समझा जाना चाहिये। लेखक की रचना के जनता पर पड़े प्रभाव और प्रतिक्रियाएँ ही आलोचक द्वारा प्रकट होनी चाहियें ताकि लेखक के प्रयत्न पाठकों के लिए अधिक उपयोगी और सन्तोषप्रद हो सकें। लेकिन आलोचक जब सर्व-साधारण पाठकों पर पड़े प्रभाव या उनकी प्रतिक्रिया की उपेक्षा कर उन्हें आज्ञा दे कि तुम पर ऐसा प्रभाव पड़ना चाहिये, तो वह जनता का वैसा ही प्रतिनिधित्व करता है जैसा कि आज इस देश में जनता की प्रतिनिधि कहलाने वाली सरकार जनता का प्रतिनिधित्व कर रही है।

प्रगतिशीलता के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाला आलोचक अभी कल तक रचनात्मक लेखक को समझाता था कि जनता की आर्थिक लड़ाई और वर्ग चेतना के अतिरिक्त किसी और विषय पर लिखना पलायन है। आज वह राहुल पर साम्राज्यवाद और सामन्तवाद का रक्षक होने की तोहमत इस लिये लगाता है कि राहुल ने अभी इस देश में साम्राज्यवाद और सामन्तवाद से संघर्ष

की आवश्यकता होते हुए भी वर्गहीन समाज के लक्ष्य का परिचय जनता को दे दिया। रामविलास की बुद्धि के अनुसार राहुल ने ऐसा कर "नये जनतंत्र के लिये संघर्ष को कमज़ोर बनाया।" मानो, वर्गहीन समाज को लक्ष्य मानने वाली जनता जनतंत्र का विरोध या उपेक्षा करेगी। प्रगतिवाद के प्रतिनिधित्व का दम्भ करने वाले इस आलोचक के मत में "राहुल जी का यह काम त्रात्सकीवाद है।" ऐसे विकट मार्क्सवादी के अनुसार जर्मनी में सामन्तवाद और साम्राज्यवाद का अन्त हुए बिना "कम्युनिस्ट घोषणापत्र" लिख संसार के मज़दूरों के सामने वर्गहीन समाज का लक्ष्य रख देना क्या था ? रूस में साम्राज्यवाद और सामन्तवाद दोनों के विरुद्ध संघर्ष की आवश्यकता रहते हुए लेनिन का रूस के मज़दूरों को वर्गहीन समाज का लक्ष्य समझाना क्या था ? यदि मार्क्स और लेनिन आज मौजूद होते तो रामविलास पाठकों की नज़र में चढ़ने के लिये उन दोनों को भी त्रात्सकीवादी बता सकता था। जो आदमी 'लक्ष्य' और 'तात्कालिक कार्यक्रम' के अन्तर को हड़प जा सके, वही इतना हतबुद्धि हो जा सकता है कि अपने 'अहं' के फेर में, अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने का हो हल्ला खड़ा करने के लिये साझी नाव में छेद कर दे। राहुल को सामवन्तवाद और साम्र-ज्यवाद की रक्षा न करनी होती तो वह मानवता के कल्याण का एक मात्र उपाय "समाजवाद ही क्यों ?" क्यों बताता ? 'एँ एँ !' का प्रयोजन तो पूरा हो गया। लोगों ने चकित हो कर पूछा—हिन्दी जगत को समाजवाद का परिचय सब से पहले और विस्तृत रूप में देने वाले और रूढ़िवादियों के क्रोध का पात्र बनने वाले लेखक को भी समान्तवाद और साम्राज्यवाद का सहायक सिद्ध कर देने की विद्वत्ता किस में है ? बस काफी है। नाव को कुछ आगे बढ़ाने की योग्यता दिखा कर ध्यान आकर्षित नहीं किया जा सकता तो नाव में छेद करके ही सही।

और उदाहरण लीजिये, मेरी दो कहानियों की आलोचना कर अमृतराय ने यह निष्कर्ष निकाला है :—"यह सड़ी गली साम्राज्यवादी नैतिकता है जिसका समाजवादी नैतिकता से रत्ती भर मेल नहीं" और "यह बेहूदा बात कहने की हिम्मत बोस को इसलिये हुई कि हमारा समाज पुरुष-शासित समाज है। जिसमें पुरुष शोषक है और स्त्री शोषित।" जिन कहानियों से ऐसे निष्कर्ष

निकलते हैं उन्हें अमृतराय साम्राज्यवाद के हाथ मजबूत करने वाली कहानियां बताते हैं। इनकी राय में साम्राज्यवादी नैतिकता के प्रति घृणा और विरोध पैदा करना साम्राज्यवाद के हाथ मज-बूत करना है? इस एं! एं!! का क्या उत्तर?

मेरी 'फूलो का कुर्ता' कहानी की अन्तिम पंक्तियां हैं—"बदली हुई स्थिति में भी परम्परागत संस्कार से ही नैतिकता और लज्जा की रक्षा करने के प्रयत्न में क्या से क्या हो जाता है?...हम फूलों के कुर्ते के आँचल में शरण पाने के प्रयत्न में उघड़े चले जा रहे हैं और नया लेखक कुर्ते को चेहरे से नीचे खेंच देना चाहता है।" अमृतराय इस कहानी को आधी दर्जन बार पढ़ जाने पर भी इसका सिर-पैर कुछ नहीं समझ पाये। मैंने यह कहानी १९४६ में एक वक्तव्य के रूप में बम्बई के प्रगतिशील लेखक संघ की बैठक में पढ़ी थी। वहां यह कहानी सभी को 'बहुत साफ़' मालूम हुई थी। बाद में 'जन युग' के अनुरोध पर उन्हें इसे छाप लेने की भी अनुमति मैंने दे दी थी। यह सब इसलिये कि उन लोगों की दृष्टि आलोचक की दृष्टि नहीं थी। एक पाठक-आलोचक की राय इस कहानी के लिये थी कि इस में कला का संकेत न रह कर प्रचारक का मुंह फट-पना आ गया है। प्रचार की स्पष्टता का दोष इस कहानी में स्वीकार किया जा सकता है परन्तु अमृतराय कहते हैं कि उन्हें इस का भाव, रहस्य या सिर-पैर कुछ समझ नहीं आया। यह है आलोचक की पैनी सूझ!

संक्षेप के लिए मेरे सब से छुटे उपन्यास 'पार्टी कामरेड' का ही जिक्र पर्याप्त होगा। अमृतराय और रामविलास को इस में कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं पर कलंक के धब्बे लगाये गये दिखायी देते हैं। यह है आलोचकों की ज्ञान दृष्टि! और पाठकों की? इस उपन्यास के प्रकाशित होते ही नागपुर की मजदूरसभा के अन्त-र्गत 'प्रेस कर्मचारी संघ' के कार्यकर्ता प्रचार के लिये इस पुस्तक को लागत मात्र मूल्य में बेच सकने के लिए बिना मजदूरी लिये छापने और इसके कागज के लिये आपस में चन्दा कर लेने के लिए तैयार थे। यह है सर्वसाधारण मजदूर की परख! परन्तु शायद उन्हें पर्याप्त रूप से सचेत और सतर्क नहीं माना जायगा! 'पार्टी कामरेड' के छपने से पूर्व उत्तर प्रदेश और बिहार प्रान्तों में

कम्युनिस्ट संगठन के तत्कालीन निरीक्षक साथी सरदेसाई ने अवसरवश इसे देख लिया था। राय दी थी कि यह उपन्यास उन्हें अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध उपन्यास 'For Whom the Bell Tolls?' से अधिक अच्छा लगा। प्रगतिशील आलोचकों की बात पहले कह चुका हूँ। क्या उनकी आलोचना को सर्वसाधारण जनता की प्रतिक्रिया का प्रतिनिधि मान लिया जाय?

जब आलोचना का आधार सैद्धान्तिक न होकर केवल अहं प्रदर्शन का उन्माद (हिस्टीरिया) हो, तब उस "ऐं! ऐं!! का उत्तर क्या? एक समय अति वामपक्ष में झुक कर सर्वसाधारण को विरोधी बना लेने की भूल हुई तो आज 'संयुक्त मोर्चे' के नाम पर वास्तविक लक्ष्य की ओर संकेत करने को ही त्रास्सकीवाद बताया जा रहा है। यह संयुक्त मोर्चे का अर्थ है जनता के उद्‌बोधन और प्रगति के लिये यथासम्भव विस्तृत समर्थन और सहयोग पाने का प्रयत्न। संयुक्त मोर्चे का अर्थ है जनता के उद्‌बोधन और प्रगति के लिये प्रयत्न को बलिदान नहीं कर दिया जा सकता। आज संयुक्त मोर्चे का रूप रूढ़िवाद और प्रतिगामी भावना की चापलूसी बन रहा है। संयुक्त मोर्चा नहीं बल्कि प्रतिगामिता के सम्मुख आत्म-समर्पण और पिछलग्गूपन है। त्रास्सकी उतना अज्ञानी नहीं था जितना कि अहम्मन्य, स्वार्थपर और बदनियत? त्रास्सकीवाद की राह क्रान्ति और जनहित के लक्ष्य की अपेक्षा अपने 'अहं' को अधिक महत्व देना है। यह बदनियती है। साहित्य में भी त्रास्सकीवाद की पहचान यही है। जो लेखक या आलोचक एक ही कुलांच में, बिना किसी आत्मालोचना के अति-वाम पक्ष के मोर्चे के नेतृत्व से संयुक्त मोर्चे के नेतृत्व पर चौकस खड़ा हो जा सकता है उसे विचारक या चिन्तक नहीं कहा जा सकता। वह न तब ईमानदार था न अब। यह करतब केवल पटेबाज़ी या व्यर्थ ताल ठोंकने की हुंकार मात्र है। ऐसे खलीफा कभी भूल स्वीकार नहीं करते सदा भूल सुझाने का ही दम भरते हैं। आलोचना लेखक और साहित्यक प्रगति के लिये बहुत सहायक हो सकती है बशर्ते कि नियत नेक हो?

यशपाल

१

उत्तराधिकारी

दानपुर के इलाके की गरीबी के खयाल से हरसि का परिवार अच्छा खाता-पीता घर था। उसके बाप और चाचा ने पुश्तैनी जमीन बांटी नहीं थी। चाचा के भी दो लड़के, उसके छोटे भाई थे। घर मे खेती के काम-काज के लिए आदमियों की कमी न थी। उतनी जमीन पर कितने आदमी काम करते? पहाड़ के छोटे-छोटे खेतों में एक आदमी मेहनत करे या दो, फसल की निकासी में कुछ फरक नहीं पड़ता। मर्द खेत जोत कर औरतों के हवाले कर देते हैं और लुनाई तक वे ही उन्हें सम्भालती हैं। गोरू और भेड़, बकरी की रखवाली बच्चे ही कर लेते हैं। उनके सीधे-साधे जीवन की सभी आवश्कताएं वहीं पूरी हो जाती हैं। अपने खेतों के मण्डुआ और चूआ का अनाज, गौओं से दूध-घी और घर की भेड़ों की ऊन से कता-बुना कपड़ा। मर्दों के कंधों से कमर तक घर के बुने कम्बल का गाता लोहे के एक बड़े सुए से सम्भला रहता है। कमर ढंकने के लिये कभी हाथ भर, और कभी बालिस्त भर चौड़ा कपड़ा। स्त्रियाँ भी ऐसा ही गाता और नीचे मोटा लहंगा पहने रहती हैं। शौक किया तो गाते के सुए में चांदी की जंजीर लटका ली।

पहाड़ी देहात के आपसी व्यवहार में रुपये-पैसे की ज़रूरत प्रायः नहीं पड़ती। परन्तु कुछ काम हैं जो रुपये से ही होते हैं, सरकारी मालगुजारी, गहना, ब्याह-शादी का दस्तूर और कभी अदालत-कचहरी का काम, रुपये के बिना निभ नहीं सकता। पर दानपुर में ऐसी कोई पैदावार या कारोबार नहीं जो रुपया लाये। जितना पैदा होता है, वहीं खप भी जाता है। दानपुर में रुपया आता है कुछ तो निगला की चटाइयों की बिक्री से और खास कर

सरकारी खजाने से, सिपाहियों की तनखाहों के और पेन्शनों के रूप में। दानपुर की पट्टी खूब फैली हुई है परन्तु खेती और बस्ती कम, जंगल और पहाड़ ज़्यादा। सरकारी खजाने से लगभग दो लाख रुपया सालाना तनखाहों और पेन्शनों के रूप में वहां आता है। इस रुपये का मूल्य दानपुरिये अपने जवानों की जिन्दगियों और खून से चुकाते हैं। दानपुरिया जवानों के गठीले, सबल और दृढ़ शरीर, उनकी निर्भयता और भोलेपन के कारण ब्रिटिश साम्राज्य-शाही की सेनाओं के लिये भरती करने वाले अफसर इन्हें सदा चाव और पक्षपात की दृष्टि से देखते रहे हैं। वहाँ बिरला ही परिवार होगा जिसने सेना को जवान न दिये हों। दानपुर के जवानों की हड्डियों से दूर-दूर देशों की भूमि उर्वरा हुई हैं। दानपुरियों के पास रुपया कमाने का दूसरा कोई उपाय है ही नहीं।

दानपुर में ब्याह कम उम्र में ही हो जाते हैं। हरसिं का भी ब्याह जल्दी ही हो गया था। उसकी बहू बारह बरस की हुई तो ससुराल आ गई। घर और खेती का काम बटाने को दो हाथ और हो गये। हरसिं के चाचा के लड़के दो छोटे भाई भी थे। बहनें गईं तो बहुएं आने लगीं। हरसिं बीस बरस का हो गया था। वह रानीखेत जा अंग्रेज-सरकार-बहादुर की फौज में भरती हो गया।

हरसिं के बाप और चाचा तो निभाते चले आ रहे थे परन्तु परिवार बढ़ा तो खटपट भी होने लगी। हरसिं के चाचा के लड़कों का खयाल था, 'काम तो सब हम ही करते हैं, जमीन कहने को साझी है। ताऊ का लड़का पलटन में चला गया और उसकी तनखाह ताऊ अपनी जेब में रख लेते हैं।' हरसिं का बाप सोचता—'अब मैं लड़के की कमाई से खेत जमीन खरीदूं तो उसमें हिस्सेदार दूसरे भी होंगे! आखिर······पंचायत में बटवारा हो गया।

हरसिं बरस के बरस छुट्टी पर आता और अपनी बहू मानी की भरती हुई जवानी देखता। हरसिं की बहू चौदह बरस की हो रही थी। उस साल हरसिं छुट्टी पा घर नहीं आ सका। पड़ोसी गांवों के दूसरे सिपाही भी बहुत कम घर आये। हरसिं छुट्टी पर नहीं आया लेकिन पटवारी के यहाँ से हरसिं के घर संदेश आया कि तुम्हारा लड़का लाम पर समुद्र-पार चला गया है तुम डाकखाने में

ज़ाकर उसकी तनखाह ले लो। हरसि जब तक समुद्र पार रहेगा। हर माह इसी प्रकार तनखाह मिलती रहेगी।

मानी ने अपने आदमी के समुद्र पार लाम पर चले जाने की बात सुनी तो उदास हो गयी। पर उदास होकर बैठने से चलता कैसे ? घर और खेती का काम तो करना ही था, उदासी हो या खुशयाली ! और आंख की ओट जैसा एक कोस, वैसा सौ कोस। यों भी तो बरस में महीने भर को ही आता था।

दो बरस और बीत गये। मानी के शरीर पर ऐसी सुडौल जवानी फूट रही थी कि जिसके पास से गुजरती, एक आंख देखे बिना न रह पाता। गाँव के और पड़ोसी गांवों के भी कितने ही जवान सरकारी फौज में भर्ती थे; लेकिन गांवों में भी आदमी थे ही। मानी लोगों की आंखें पहचानने लगी और आंखों में देखने भी लगी। दिन भर की हाड़ तोड़ मेहनत में जरा हंस लेने, मुस्करा लेने से मन हलका हो जाता था। घर में बूढ़े-बुढ़िया के सामने कब तक मुंह लटकाये बैठी रहे।

मानी के सास-ससुर उसे खेती और घर के काम-काज में या पशुओं के प्रति बेपरवाही के लिए डांटते ही रहते थे। अब सास लोगों से बोलने-चालने पर भी डांटने लगी। कुछ दिन तो मानी इस डांट-फटकार को कान के पीछे डाल चुप रह गई लेकिन जब उसके आने-जाने पर रोक-टोक लगने लगी, तो मानी ने भौंहें टेढ़ी कर जवाब दे दिया—"घर में रहने नहीं देती हो तो बता दो !··· दो रोटियाँ ही तो खाती हूँ, मेरे लिए यहाँ क्या रक्खा है ?···जब आयेगा उसे जो कहना होगा, कह लेगा ?···तुम्हें भारी हो रही हूँ, तो कह दो ; मेरे भी हाथ-पांव चलते हैं···दुनिया बहुत पड़ी है।"

इस पर भी जब ससुर ने धमकाया तो सुबह पशुओं के लिए घास काटने जाकर मानी रात को भी न लौटी। ससुर उसे पड़ोस के गांव से खुशामद कर लौटा लाया। बूढ़ा डर गया कि बेटा तो लाम पर गया है, यह भी चल दे तो पीछे खेती का काम कौन निभायेगा ? घर में दो-एक बच्चे भी नहीं कि गोरू ही रखा लेते। पानी, ईंधन ओर पशुओं के लिए घास-पात की मदद से भी जायें।

चार बरस बाद लाम खतम हुई। कुछ सिपाही लौटे और

कुछ नहीं लौटे। हरसिं नहीं लौटा लेकिन उसकी तनखाह बराबर मिलती रही। खबर मिली वह लाम में जख्मी हो गया था, अस्पताल में है, चंगा होकर आयेगा।

इसी बीच एक दिन मानी के ससुर के पेट में मरोड़ उठे और वह चल बसा। बुढ़िया बेचारी हलियों से हल जुतवा कर बहू के साथ खेती निभा रही थी। मानी का मन नहीं लगता था। शरीर थकावट से बिखरा बिखरा जाता था। वह मन को मारती परन्तु पड़ोसी, खास कर जुहार, बेचैन कर देते···वह बेबस हो जाती।

मानी फिर पड़ोस के गांव चली गयी। जुहार उसे ढांटी (घरवाली) बैठाने को तैयार था; परन्तु मानी की सास ने जाकर रंगरूटी-हवलदार के सामने दुहाई दी कि उसका बेटा सरकार की नौकरी में खून बहा रहा है और लोग उसकी बहू को भगा ले जायें! सरकार हमारा इतना भी खयाल नहीं करेगी? रंगरूटी-हवलदार को भी पसन्द नहीं था कि जुहार अकेला मानी को संभाल कर बैठ जाये। हवलदार ने जुहार को धमका दिया। अब मानी से हँसने खेलने को तो बहुत लोग तैयार थे लेकिन उसे अपने यहाँ बसा लेने का साहस किसी को न था।

× × ×

हरसिं ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिये महायुद्ध में लड़ता हुआ लगभग युद्ध समाप्त होने के समय बुरी तरह से जख्मी हो गया। उसकी कमर के आसपास लगने वाले जख्म बहुत पेचीदा थे। विषैली गैस का प्रभाव भी उसके स्वास्थ्य पर गहरा पड़ा था। प्रायः डेढ़ बरस तक फौजी-अस्पताल में उसका इलाज होता रहा। वह चलने-फिरने के लायक हो गया, परन्तु मर्द नहीं रहा। अंग्रेज सरकार ने उसकी वफादारी और युद्ध में खाये जख्मों से बेकार हो जाने के कारण उसे आधी नौकरी में ही पूरी पेन्शन दे कर छुट्टी दे दी।

हरसिं पूरे साढ़े पांच बरस बाद गांव लौटा। लौटकर देखा, उसका बूढ़ा बाप नहीं रहा था। घर में उसकी मां, बहू और उसका एक लड़का मौजूद था। अपनी अनुपस्थिति में हो गया लड़का देख हरसिं क्रोध से झल्ला उठा। उसने सोचा, लड़का उसका होता

तो चार बरस से ज्यादा का होता। बच्चा था केवल दो बरस का। हरसि की मां ने माथे पर हाथ मार कर कहा—"···तो मैं क्या करती ?···मैं ही जानती हूं जैसे मैंने इस चुड़ैल को नथिया कर रोके रखा। अब वह सब जाने दे !···तू भी तो ऐसे वक्त चला गया ! उसकी जवानी का अंधड़ था। कौन नहीं जानता बरसात की पहली आँधी में पेड़ गिरा ही करते हैं। अब ढंग से निभा ! लड़का है तो जवान भी होगा। अब तेरा ही है······"

हरसि ज्यों-ज्यों इस बारे में सोचता, उसके सिर में खून चढ़ता जाता। उसका व्यवहार मानी से ऐसा था जैसे जेलर का अपराधी से होता है। मानी सिर झुकाये चुप रह जाती या रो देती। जहाँ तक बन पड़ता, वह पति की आंखों से ओझल रह कर घर या खेती के काम में उलझी रहती। कभी हरसि मानी पर हाथ छोड़ बैठता। मानी वह भी सह जाती परन्तु हरसि का गुस्सा बढ़ता ही जा रहा था। वह मानी की हर बात पर आग बबूला हो जाता। बात-बात में बच्चे को ठोकर मार देता। मानी और तो सब सह जाती; पर बेकसूर बच्चे पर मार न सह सकती।

मानी ने बच्चे को मारने पर एतराज किया। हरसि और भी बिगड़ उठा—"मैं अभी तुझे और तेरे इस हरामी को काट कर फेंकता हूं।"

हरसि सचमुच छत की धन्नी में खोंसे हुए पेड़ काटने के दांव की ओर लपका। मानी के शरीर से मानों सारा रक्त खिंच गया; परन्तु प्रतीक्षा करने या गिड़गिड़ाने का अवसर नहीं था। अपने बच्चे को छाती से चिपटा कर वह पूरी शक्ति से भाग गयी।

हरसि जब धन्नी से दांव खींचकर लौटा तो मानी बच्चे को लेकर भाग चुकी थी। उतना तेज भाग कर जवान मानी को पकड़ लेना हरसि के सामर्थ्य में नहीं था। होंठ काटकर उसने सोचा,... भाग गई ! खैर, जब लौटेगी !···

मानी सांझ तक नहीं लौटी। मां ने रोटी सेंक दी परन्तु हरसि खा नहीं सका। वह पुआल पर कम्बल बिछा कर लेटा तो दांव सिराहने रख लिया। मानी की दुष्टता का बदला लिये बिना वह जिन्दा रहने को तैयार न था। जब मानी आधी रात तक भी न लौटी

तो उसे निश्चय हो गया, अब नहीं आयेगी। सोचा, 'जुहार के यहाँ गई होगी ! जाय ! मैं हरजाई को अपने यहाँ नहीं रक्खूंगा !'

दूसरे दिन भी मानी नहीं लौटी, तो हरसि ने टोह ली। वह सचमुच जुहार के यहां गई थी। वह जुहार के यहां पहुंचा। जुहार और उसका भाई हाथ में दांव लेकर सामने आये और बोले—"बोल क्या करेगा ?"

हरसि ने कहा—"अच्छा, पंचों में फैसला होगा।"

हरिस ने पंचायत कराई। पंचों ने तम्बाकू और 'जाग।'* का सत्कार पाकर फैसला दिया—मानी हरसि की व्याहता औरत है। जुहार मानी को ढांटी (घरवाली) रखना चाहता है तो हरिस की इज्जत का हर्जाना यानी जर-जेवर की कीमत १००) दे।

हरसि ने भरी पंचायत में जुहार से १००) लेकर अपनी इज्जत तो बचा ली परन्तु उसके मन पर लगा घाव पूरा नहीं हुआ।...पर जिन्दगी तो निभानी ही थी। वह चुपचाप जानवरों और खेती का काम करने लगा। अकेले आदमी के लिये काम इतना था कि दिन भर किये पर भी पूरा न होता। हरसि के लिये यह ही अच्छा था। बूढ़ी मां और बेटा दिन काटने लगे। वे न आपस में बोलते और न किसी दूसरे से ही।

× × ×

मानी को गये तीन बरस हो चुके थे। हरसि ने सब तरफ से ध्यान हटाकर अपनी जमीन में ही आँखें गड़ा दी थीं। सरकारी कायदे से उसने अपनी जमीन से लगती बेनाप जमीन तोड़कर पांच नाली खेत और बना लिये। अपनी दोनों भैंसों का घी जमा कर बेचता रहा और तीन बरस की पेन्शन का रुपया जमा कर उसने वारिसों से भी पांच नाली खेत और खरीद लिये।

गांव के लोग उसकी इन बातों पर हँसते, '...अकेली तो जान है ! किसके लिये कर कर के मर रहा है। चरस की चिलम के लिये एक पैसा भी खर्चने में जान निकलती है।' वारिसों ने भी इसी खयाल से जमीन सस्ती दे दी कि मुफ्त का रुपया दे रहा है तो

* स्थानीय चावल की शराब

क्यों न लें ? ...इसके आंख बन्द करने पर तो जमीन अपनी ही है। दस नहीं तो पन्द्रह बरस और जोत लेगा, फिर तो इसकी कमाई अपने ही बाल-बच्चों के हाथ आयेगी ?...इसका कौन है ?......क्या छाती पर रख कर ले जायगा ?

परन्तु जब उसके वारिसों और गांव वालों ने सुना कि हरसि इस उम्र में ढांटी के लिये औरत ढूंढ़ रहा है तो हैरान रह गये। जाड़े के दिनों में जब खेती, फसल और ईंधन कटाई का कोई काम नहीं था, हरसि छः-सात दिनों के लिये रंगोड़ की तरफ गया। एक महीने के बाद वह फिर छः सात दिन के लिये उधर गया और सच-मुच एक तेईस-चौबीस बरस की, कुछ बीमार सी, दुबली-पतली-सी जवान खूबसूरत औरत को ले आया।

गांव के लोग हैरान रह गये और हरसि के वारिसों के कलेजे पर तो सांप लोट गया। लेकिन क्या कर सकते थे ! हरसि ने पंचायत में कह दिया कि हर्जाना भर के यानी जर-जेवर की कीमत तार कर औरत को लाया है। लोगों ने हर्जाने की रकम ३००) सुनी तो हैरान रह गये।

कपकोट के पास हरसि ने एक रात जिस किसान के यहां डेरा किया था, रात में तम्बाकू पीते हुये उसी को अपनी परेशानी कह सुनाई कि इतनी जमीन, गोरू और धन (भेड़, बकरी) है लेकिन वह पलटन में था तो उसकी घरवाली को लोग बहका ले गये। ......वह घर बसाने के फेर में है।

उसके यजमान (मेज़बान) किसान ने सिर पर हाथ मार अपना दुखड़ा सुनाया कि उसने अपनी लड़की कुशली नरमा गांव के अच्छे खाते-पीते किसान को ब्याही थी। बेचारी के दो बच्चे भी हुये पर देवता की माया से दोनों जाते रहे। उस कमबख्त ने दूसरा ब्याह कर लिया और उसकी लड़की को दूर गांव की अपनी जमीन में डाल दिया।...उसे बुरी आदतें हैं, शराब पीता है, जुआ खेलता है। कर्जे में 'सीगल' की अपनी जमीन बेच दी तो कुशली को सौत के यहां ले गया। सौत उसे सहती नहीं। कहती है, अपने बच्चे खा गई; इसकी छाया मेरे बच्चों को बुरी है। एक रोज उसे दोनों ने मारा। बेचारी रोती हुई आकर मायके बैठ गई।

हरसि कुशली के आदमी को जर-जेवर का खर्चा देकर कुशली को ढांटी बसाने के लिये तैयार हो गया। उसने बूढ़े से कहा,—'तू उसके आदमी से बात कर ले, मैं खर्चा लेकर आता हूं।'

कुशली का आदमी औरत से जान छुड़ाना चाहता था लेकिन हर्जाना मांगा, तो इतना ज्यादा ! हरसि ने पंचों के सामने हर्जाना गिन दिया और कुशली को ले आया।

हरसि के यहाँ आकर कुशली पनप गई। उसके चेहरे पर भी सुर्खी आ गई। वह खुशी-खुशी घर और खेती का काम करती। हरसि उसे बड़ी खातिर से हाथों-हाथ रखता परन्तु उसकी गोद भरने का कोई लक्षण दिखाई नहीं दे रहा था। गांव के जवान उससे भाभी का रिश्ता जोड़ कर उच्छृंखलता दिखाते। वह ओंठ दबा कर आंख फेर लेती। उसे चिढ़ाने के लिये गांव की औरतें हरसि की कमर में गोली लगने की बात बता कर कहतीं—"……यों ही ब्याह किया इसने तो !"

कुशली के पास एक ही जवाब था—"तों फिर तुम्हें क्या ?"

उस बरस जाड़े की फसल बो देने के बाद हरसि अलमोड़ा गया। वह जानता था कि डाक्टर लोग चीर-फाड़ के अलावा और कुछ नहीं जानते लेकिन देशी वैद्य-हकीमों के पास ऐसी जड़ी-बूटी होती है कि जो चाहें कर दें ! एक 'खानदानी' वैद्य जी ने उससे २१) लेकर इक्कीस पुड़िया ऐसी दवाई कि दे दी कि लोहा खाले तो पच जाये और पत्थर में छेद कर दे……।

लौट कर लोगों के हँसने की परवाह न कर हरसि ने कुशली का बांझपन दूर करने के लिये देवता का जागर भी कराया। कुशली चुप रही। क्या कर सकती थी ?…और सोचा देवता की करनी का क्या अन्त !

जब एक बरस और निष्फल बीत गया तो हरसि ने कुशली को समझाया—"बालेश्वर के देवता की सब से बड़ी मानता है। तू वहां जाकर दिया जला !"

कुशली ने उसे समझाया—"क्यों हंसी कराते हो ? तुम्हारे चोट लगी है तो क्या हो सकता है ?"

परन्तु हरसि का इस तर्क से समाधान नहीं हुआ।......यह सब खेत-जमीन आखिर किसके लिये थे? वह सन्तान चाहता था। उसे सन्तान की उतनी ही उत्कट चिन्ता थी जैसी महाराज दशरथ को अपना सिंहासन सूना हो जाने की और महाराज शान्तनु को अपना वंश निर्मूल हो जाने की। वह 'पुत्रेष्टि यज्ञ' कैसे न करता? उसने कुशली को समझाया, क्या यह सब मकान, गोरू, खेत, जमीन दूसरों के लिये छोड़ जायेंगे?

वैशाख-पूर्णिमा के दिन बालेश्वर महादेव का अपार महात्म्य होता है। हरसि ने कुशली को ले जाकर उसी अवसर पर दिया जलाने का निश्चय किया था। परन्तु भाग्य की बात; एक विषैला कांटा हरसि की पिंडली में चुभ जाने के कारण उसका पांव इतना सूज गया था कि उसके लिये चलना असम्भव हो गया।

हरसि ने कुशली को समझाया—"देवता के यहां जाने का संकल्प किया है तो उसे झूठा करने से देवता का कोप होगा।... जाने क्या अनिष्ट हो जाय! तू अकेली ही जा। तू देवता की ड्योढ़ी को जा रही है तो वही रक्षा करेगा। बालेश्वर में मेला है। तू लंहगे का कपड़ा और दो चार चीज गले और हाथ की भी खरीद लेना। डर किसका है? अंग्रेज का राज है। सड़कों पर हरदम आदमी चलते हैं। मुसाफिर दुकानों में ठहरते ही हैं। तकलीफ न करना। चाहे जितना रुपया ले जा–दस, बीस, पचास! अपना यह सब कुछ है किसके लिए? जब घर में अंधेरा है तो धन-जमीन का क्या?"

इतना लम्बा सफर अकेले करते कुशली का मन सहम रहा था परन्तु जब आदमी ने न माना तो क्या करती? बेचारी चली। जिस राह हरसि के साथ नरमा से आई थी, उसी राह चली जा रही थी। कुछ दूर जाने पर अलमोड़ा जाते स्त्री पुरुषों का साथ हो गया और फिर मेले में जाने वाले यात्री मिलने लगे।

वैशाख-पूर्णिमा के दिन बालेश्वर में बांझ स्त्रियां अंजली में दीप जलाकर मन्दिर के द्वार के सामने जल में दिन रात, चौबीस घंटे दीपक की ओर टकटकी लगाये खड़ी रहती हैं। इस कड़ी तपस्या से स्त्रियों के सिर में चक्कर आ जाता है। वे डगमगा जाती हैं। ठण्डे पानी में पांव सुन्न हो जाने से वे गिर पड़ती हैं। तपस्या भंग हो जाने से न केवल देवता का वरदान नहीं मिलता, वरन् देवता

के शाप का भय रहता है। इसलिए तप करने वाली स्त्रियों के घर की स्त्रियां और सम्बन्धी उन्हें कंधों और पीठ से सहारा देने के लिए साथ खड़े रहते हैं।

कुशली बेचारी अकेली थी। उसे कौन सहारा देता! परन्तु वह आई थी सन्तान का वरदान मांगने ; दिया लेकर तप करने खड़ी कैसे न होती? जब और स्त्रियाँ अंजली में दीपक लेकर मन्दिर के सामने खड़ी हुईं तो वह भी खड़ी हो गई।

घड़ियों-पर-घड़ियाँ बीतने लगीं। कुशली अंजली में दीपक लिए, लौ की ओर टकटकी लगाये खड़ी थी। आस-पास खड़ी जवान लड़कियाँ और स्त्रियाँ डगमगाने लगीं और लोग उन्हें सहारा देने लगे। कोई-कोई रोने और चिल्लाने भी लगीं। परन्तु उनके सम्बन्धी उन्हें थामे रहे। कुशली को सहारा देने वाला कोई नहीं था। वह पत्थर की मूर्ति की तरह खड़ी रही। कुछ समय बाद उसे जान पड़ने लगा कि उसकी पिंडलियाँ बरफ के पैने फलों से कटी जा रही हैं। वह तना कट जाने से गिर जाने वाले पेड़ की तरह गिर पड़ेगी। उसने अपने दांत दबा लिये, वह नहीं गिरेगी। उसे अनुभव हुआ उसका शरीर हिल रहा है। उसने निश्चय किया, वह डिगेगी नहीं। कुशली को मालूम हुआ—सामने का मन्दिर हिलने लगा, हिलकर कबूतर की तरह तालाब के चारों ओर उड़ने लगा, पहाड़ भी झूले की चरखियों की तरह घूमने लगे; परन्तु वह कहती रही कि वह गिरेगी नहीं···! फिर उसने सहायता के लिए पुकारा परन्तु होंठ खुल नहीं पाये। उसे अपनी अंजली का दीपक दिखाई नहीं दे रहा था। आंखों के सामने बादल आ गये थे···वह गई!······फिर मालूम हुआ कि थम गई! किसी ने उसे थाम लिया ; उसे जान पड़ा, देवता ने उसे थाम लिया।

जब जोर-जोर से घंटे-घड़ियाल और शंख बजने लगे तो उसे मालूम हुआ कि उसकी अंजली से दीपक हट गया। कोई उसे घसीट कर जल के बाहर ले जा रहा है, कोई उसे थामे हुए है। वह जमीन पर बैठा दी गई, कोई जोर-जोर से उसके पावों और पिंडलियों को मल रहा है। वह अनुभव कर रही थी; परन्तु उसके न हाथ हिल सकते थे और न होंठ।

कुशली के कानों में सुनाई दिया—'ले चाह पीले।' गरम-गरम चाय उसके होंठों से लगी और जीभ तक बह गई। गले में पहुंचने पर गले ने घूंट भर लिया, तब उसके होंठ और घूंट भर सके।

जब कुशली को दिखाई देने लगा, तो उसने देखा कि कोई एक आदमी उसका सिर मल रहा है और कभी उसकी पिंडलियों को मलने लगता है। वह सिमट गई। मुंह से बोले बिना उसने आदमी के हाथ हटा दिये।

आदमी ने हंस दिया और बोला—"थाम नहीं लेता तो गिर नहीं पड़ती ?"

कुशली ने अधखुली आँखों से उसकी ओर देख आंखें झुकालीं; मानो कह रही हो, ठीक कहता है, तूने बड़ी दया की !

सूर्य की किरणें जमीन पर फैल गई थीं। कुशली को इन किरणों से आराम मिल रहा था। वह अपनी पीठ किरणों की ओर कर लेटी रही।

वह आदमी अपना कम्बल वहीं छोड़ उठ कर कुछ दूर गया और लौटा तो पत्ते पर गरम जलेबी लिए था। बोला—"ले यह खा ले। जिस्म में गरमी आ जायगी।"

कुशली धूप में मन्दिर के हाते की दीवार से पीठ लगा बैठ गई और जलेबी खाने लाने लगी। अब सुध आने पर कुशली ने उसे पहचाना।...पिछले दो पड़ाव से यह आदमी यात्रियों में उसके साथ ही था। कुशली को अकेले देख कर उसने पूछा था, "तू इतनी दूर से अकेली कैसे आई ?"

उस समय कुशली ने जवाब दिया था—"ऐसे ही !......तुझे क्या ?" परन्तु अब वह बात करने लगा तो कुशली सब कुछ बताती गई।

दोपहर तक कुशली की तबियत ठीक हो गई तो उस आदमी ने कहा,—"जरा उठ, मेला देखें।"

कोई औरत अकेले नहीं घूम रही थी। कुशली भी उस आदमी के साथ घूमने लगी। उसे देवता की पूजा ठीक से हो जाने का संतोष था। उसने लहंगे का कपड़ा खरीदा, गिलट के खड़ुए

और पीतल का मुलम्मा चढ़ा गुलूबन्द भी। वह आदमी रखवाली में उसी के साथ बना रहा कि कोई उसे ठग न ले। जैसे वह उसी का आदमी हो। कुशली को झेंप मालूम होती; पर अच्छा भी लगता। अकेले भी तो अच्छा नहीं लगता।

. रात गये तक मेला होता रहा। जगह-जगह गैस जल रहे थे। कुशली को जान पड़ रहा था कि दिन से ज्यादा और अच्छी रोशनी हो रही है। उस आदमी ने कुशली को सेउ, पूरियां और मिठाई खिलाई। ऐसा तमाशा और मजा कुशली ने कभी नहीं देखा था। उस आदमी के साथ वह कभी थक कर बैठ जाती और कभी घूमकर तमाशा देखने लगती।

नींद का समय आया। कुशली राह में जिन यात्रियों की भीड़ के साथ आयी थी, उन्हें खोजने लगी। गनेरसिंह ने, यही उस आदमी का नाम था, कहा, 'अरे क्या ढूंढ़ती है। कौन वो तेरे सगे हैं?"—चारों तरफ पेड़ों के नीचे लेटे आदमियों की ओर संकेत कर उसने कहा—"हम लोग भी ऐसे ही कहीं एक तरफ पड़ रहेंगे।"

"नहीं"—कुशली ने कहा, उसे डर सा लगा।

गनेरसिंह ने जिद्द की—"हमारी इतनी सी बात नहीं मानेगी?"—कुशली चुप रह गई तो उसने धीमे-से मज़ाक किया—"तो फिर इतनी तकलीफ करके दिया क्यों को जलाया था?......देवता का वरदान खाली जायगा?"

कुशली को लज्जा से मधुर कंप-कंपी-सी आ गई। "हट्ट"—उसने सिर झुका पीठ फिरा कर कहा और चुप रह गई।

दूसरे दिन एक पहर दिन चढ़े वे दोनों मेले से चले तो गीत गाते लोगों की भीड़ के साथ नहीं, पीछे-पीछे, अलग-अलग से चल रहे थे। कुशली जानती थी उसे मीलों चल कर फिर हरसि के ही पास जाना है। लेकिन इस आदमी का साथ अच्छा लग रहा था। उसका बोल, उसकी नजरें उसके पसीने की गन्ध; सुहानी-सुहानी; मर्द जैसी! कुशली को ऐसा जान पड़ रहा था, देवता की तपस्या से पाया वरदान उस पर छाकर उसके शरीर को बोझिल और शिथिल किये दे रहा हो। वह बोझ ऐसे ही प्यारा लग रहा था

जैसे भारी गहनों का बोझ हो ! वह बैठने की जगह देख बार-बार बैठ जाती। वह इतनी शिथिलता से चली कि बड़ी कठिनता से वे एक ही पड़ाव पार कर सके।

अगले दिन गनेरसिंह ने अधिकार के स्वर में कहा—"अब तू दानपुर की बीहड़ पहाड़ियों में कहां जायगी ? मेरे घर चल ! मेरी सैणी (घरवाली) पिछले साल डेढ़ बरस का लड़का छोड़ कर मर गई है। उसे भी पालना और अपने पेट को भी !......मेरी पचीस नाली जमीन है, भैंस है, गाय है, बैल हैं। तू मुझे देवता ने दी है। चल कर मेरा घर बसा।...मैं तुझे नहीं जाने दूंगा !"

कुशली रो पड़ी; परन्तु इस रोने में अभिमान और सुख था और फिर उदास होकर बोली—"नहीं, मैं तो जाऊंगी। वो भला आदमी है;...गम करेगा। उसने मेरी ढांटी के ३००) दिये हैं।"

गनेरसिंह ने नहीं माना—"वो क्या तेरा आदमी है......? तेरा आदमी तो मैं हूं। मुझे गम नहीं लगेगा। मैं तेरी ढांटी का हर्जाना भर दूंगा, चाहे जितनी जमीन बेच दूं।"—उसने कुशली को बाहों में कस लिया, और बोला—"बोल, मेरा घर उजाड़ेगी ?......मेरी नहीं है तू ?"

कुशली बोल नहीं पाई, चुप रह गई। उसे हरसि का बहुत ख्याल था ; पर गनेरसिंह के साथ चली जा रही थी। दिल कहता था, दानपुर चल; पांव चले जा रहे थे गनेरसिंह के गांव की ओर।

× × ×

बारह दिन बीत गये और कुशली बालेश्वर से नहीं लौटी, तो हरसि को चिन्ता होने लगी। पन्द्रह दिन भी बीत गये तो वह परेशान हो गया। मन को समझाता, राह में माँदी ही पड़ गई हो; दो-चार दिन में आती होगी। उसे रात-रात भर नींद न आती। सोचता—क्या हो गया उसे, कहां चली गई ? यहां ही लोग उसे तकते रहते थे। थी तो बड़ी भली !...आखिर है औरत की जात ?'

हरसि को निश्चय हो गया कि कुशली चली गयी और सिर्फ़ औरत नहीं उसका देवता से पाया उत्तराधिकारी लड़का भी

चला गया। उसे जख्मी होने के कारण अपने शारीरिक असामर्थ्य का भी ख्याल आता, परन्तु फिर अपने अधिकार की बात सोचता— 'है तो मेरी औरत!' उसे यह भी पछतावा हुआ कि उसने भरी गोद मानी को घर से क्यों निकाल दिया था। आज उसका लड़का कितना बड़ा हो गया है? गोरू चराता कितना अच्छा लगता है? उस लड़के को देख हरसि के मन में स्नेह उमड़ने लगता। पर उस की बात करके हंसी कराने से क्या लाभ था?

हरसि का पांव अब ठीक हो गया था। वह कुशली का पता लगाने बालेश्वर की ओर चल दिया। पन्द्रह दिन बाद लौटा तो अकेला चेहरे पर, गहरी थकान और परेशानी लिये। खेतों में फसल तैयार हो रही थी; इसलिये बहुत दिन के लिये घर नहीं छोड़ सकता था। उसकी बूढ़ी मां के हाड़-गोड़ अब कठिनता से चलते थे। वह दस-पन्द्रह मील के चक्कर में घूम कर पता लेता रहा। जेठ में मंडुवा बो देने के बाद उसने जानवरों की रखवाली बुढ़िया के सिर छोड़ी और रंगोड़ की ओर चालीस मील का चक्कर लगा आया; पर निष्फल लौटा।

उसके गांव वालों और वारिसदारों ने समझाया कि जो औरत तेरे घर नहीं बसती उसके पीछे तू क्यों परेशान है। हां, इस बात में सब सहमत थे कि कुशली को जो रक्खे, वह हरसि का हर्जाना भरे। परन्तु मालूम तो हो कि बालेश्वर से कुशली को कौन, कहां ले गया? अगर अलमोड़ा-रानीखेत की राह हलद्वानी पार कर देश में उतर गई तो फिर क्या पता चलता है? शहर के बीहड़, गुंजानों में कहीं आदमी की गिनती हो सकती है; या उसके ठौर ठिकाने का पता लग सकता है? लेकिन हरसि हाथ-पर-हाथ रख बैठने के लिये तैयार नहीं था। उसके वारिस निशंक थे कि उसके औलाद हो नहीं सकती। इसलिये उसे प्रसन्न करने के लिये कुशली का पता लगाने के लिये तैयार थे।

सवा-बरस बीत चुका था कुशली को गये। पड़ोस के गांव 'सौबट' का ब्राह्मण कृपादत्त पिठौरागढ़ किसी गवाही में गया था। उसने लौट कर हरसि को खबर दी कि 'मैं कटेरा गांव के पड़ोस से गुजर रहा था तो बाट में कुशली घास का बोझ लिये मिली थी।

मैंने पूछा, "कैसे चली आई ?" पहले चुप रह गई, फिर आंखों में आंसू भर बोली—"जब तक वहाँ थी तो भली थी, अब आ गई तो आ ही गई।"—तुम्हारे लिये कहती थी—"आदमी तो बेचारा भला है परन्तु सब लोग जानते हैं कि अंग-भंग है।"

"मैंने कहा कि हरसि का हरजाना तो मिलना चाहिए, तो बोली–"जो मुझे लाया है, वह हरजाना भरेगा क्यों नहीं? नहीं होगा, जमीन बेच कर भरेगा। अब मैं क्या करूँ ?"—उसकी गोद में लड़का भी है। उसके आदमी का नाम ठिकाना सब पता ले आया हूँ। अदालत में हरजाने का दावा कर दे। औरत का अब क्या है, वहां बस गई। उस आदमी से उसका लड़का भी है। अब उसे गनेरसिंह की ही औरत समझ। पर तेरा हरजाना तो मिलना चाहिए! ३००) कम भी तो नहीं होता।"

हरसि ने सब बात ध्यान से सुन कर कहाः—"देखूंगा महाराज!"

फसल का मौका था इसलिए हरसि चुप रहा। लोगों ने समझा, मन मार गया; परन्तु हरसि माना नहीं था। उसने अवसर देख अपने गांव के तीन-चार आदमियों को लिया और कटेरा पहुँचा।

गनेरसिंह ने कहा—"भाई मैं झगड़ा नहीं करता। तू अंग-भंग है। औरत अपनी खुशी से मेरे साथ आई है। पंचायत जो कहे, हरजाना भरने को तैयार हूं।"

हरसि ने सिर हिलाकर कहा—"मैं हजार रुपया हरजाना लेने को तैयार नहीं। मैं तो अपना लड़का लेने आया हूँ।"

"तेरा लड़का ?"—गनेरसिंह विस्मय से होंठ और आंखें फैलाये रह गया।

आखिर पंचायत बैठी। हरसि बच्चे को मांग रहा था। पंचों ने कहा—'बच्चा तुम्हें कैसे दिला दें? औरत के तेरे घर से जाने के बरस भर बाद लड़का हुआ है। लड़का तेरा कैसे होगा?...औरत तेरे साथ जाने को तैयार नहीं। कोई भैंस-बकरी तो है नहीं, जो बांध कर भेज दें। हां, तू हर्जाने का हक़दार है।"

हरसि ने पंचों का न्याय मांगा—"पंचों, जब तक मेरा हर्जाना

नहीं मिला, औरत मेरी रही। हरजाना मिलने के बाद लड़का होता, तो मेरा नहीं था।"

पंचों ने कहा—"औरत तेरी थी; पर तेरे घर में तो नहीं थी।'

हरसि ने फिर दुहाई दी। उसने जमीन पर लकीर खींच कर कहा—"पंचो, न्याय करो! यह जमीन लकीर से इस पार मेरी और लकीर से उस पार गनेरसिंह की। मेरे खेत की ककड़ी की बेल फैल कर गनेरसिंह के खेत में चली गई। बोलो पंचो, ककड़ी किसकी मानोगे?......जिसकी बेल उसकी ककड़ी......जिसकी औरत उसका बच्चा! हरजाना देने से पहले औरत को गनेरसिंह की ढांटी मानते हो, तो बच्चा उसका! मैं अपना लड़का लूंगा। लड़के की मां आती है, मेरे सिर-आंखों पर आये; नहीं आती, उसका मन! मैं हरजाने का एक पैसा मांगू, तो मेरे लिए गाय का खून! पंचो, यह परमेश्वर का न्याय है, नहीं तो अंग्रेज-बहादुर की अदालत है। पंच न्याय नहीं देंगे, तो हरसि अंग्रेज की अदालत में जायगा। मेरा घर-बार है, जमीन जायदाद है, मैं लड़के के बिना मरूंगा?......मुझे पानी की अंजली कौन देगा?"

पंचों ने एक-दूसरे की ओर देखा और स्वीकार कर लिया कि लड़का हरसि का है।

कुशली एक ओर बैठी थी। पंचों का फैसला सुना, तो बच्चे को छाती से चिपटा कर चीख उठी—"मैं अपना बच्चा किसी को नहीं दूंगी।"

हरसि के स्वर में क्रोध नहीं था, धमकी नहीं थी, पंचायत का न्याय जीत लेने का अभिमान भी नहीं था। मुलायम शब्दों में उसने कुशली को समझाया—"अरी भागवान, तेरा बच्चा कौन छीनता है तुझसे? अपने घर चल। तू उस घर की मालकिन है!"

हरसि अपने एक बरस के उत्तराधिकारी को बड़े लाड़ और सन्तोष से गोद में उठाये दानपुर की ओर चला जा रहा था। कुशली उसके पीछे-पीछे चली आ रही थी। जैसे नई ब्याई गैया अपना बछड़ा उठाये ग्वाले के पीछे चली जाती है।

२

जाब्ते की कारवाई

मास्टर शर्मा नैतिक ढंग के आदमी हैं, जिसे अङ्गरेज़ी में "कानशियेन्शस टाइप" कहते हैं। इसलिए पुलिस और सार्वजनिक-कार्यविभाग (पी० डब्ल्यु० डी०) में अनेक सम्बन्धी होते हुए भी शर्मा ने उन अवसरप्रद और कमाऊ महकमों को छोड़ कर मास्टरी का ही पेशा स्वीकार कर लिया।

आमदनी कम होने पर भी शर्मा सन्तुष्ट थे। अपने काम को उत्तरदायित्व से और बहुत हद तक अपना ही काम समझ कर पूरा करते थे। इन्टरमीडियेट कालेज के विद्यार्थी उन्हें अपना शासक अनुभव न कर सहायक समझते थे और उनका मान करते थे। प्रिंसिपल साहब भी शर्मा की उत्तरदायी और मेहनती प्रकृति की प्रशंसा करते रहते पर इतनी नहीं कि शर्मा को अभिमान हो जाये! और यथा अवसर उस से स्वयं लाभ भी उठाते। जिम्मेवारी का काम शर्मा को सौंप वे निश्चिन्त हो सकते थे।

स्कूल-कालिजों में विद्यार्थियों के लिए सैनिक-शिक्षा का कार्य-क्रम जारी किया गया तो शर्मा जी के लिये एक और काम बढ़ गया। वे अपने स्कूल के सैनिक-शिक्षक भी बना दिये गए। जब-तब उन्हें सैनिक शिक्षा दे सकने यानी अफ़सरी करने की शिक्षा पाने के लिए अपने स्कूल से छुट्टी के दिनों को सैनिक-कैंपों में बिताना पड़ता। इसके साथ ही अपने स्कूल में लड़कों को दी जाने वाली वर्दियों की देख-भाल और हिसाब-किताब का बोझ भी सम्भालना पड़ता।

गर्मियों की छुट्टियों के लिए स्कूल शनिवार से बन्द होने वाले

थे। छुट्टी के समय वर्दियों को गिन कर गोदाम में बन्द कर देना ज़रूरी था। वर्दियों को गोदाम में बन्द करने से पहले शर्मा जी ने उन्हें धुलवाने के लिए स्कूल के धोबी रमजान को दिलवा दिया था।

जब रमजान वर्दियां समय पर लौटा कर न लाया तो शर्मा जी को चिन्ता होने लगी। छुट्टियाँ शनिवार से आरम्भ होने के भरोसे उन्हों ने अगले ही सप्ताह में अपनी बहिन का विवाह निश्चित कर देने के लिये देहात में अपने घर एक महीना पहिले ही लिख दिया था।

उन्हों ने स्कूल के चपरासी को रमजान धोबी के घर भेज कर पता लिया। चपरासी खबर लाया कि धोबियों के मुहल्ले में चेचक फैली हुई है। रमजान के बच्चे और वह स्वयं भी चेचक में पड़े हैं। वर्दियां धुली-धुलाई धोबी के घर पड़ी हैं परन्तु दे कौन जाय ?

यह समाचार पा शर्मा को दूसरी चिन्ता ने आ घेरा। चेचक के कीटाणुओं से दूषित यह वर्दियाँ स्कूल खुलने पर लड़कों को कैसे दी जायँगी ? धोबी के यहां से ले आने पर इन वर्दियों को दवाई के पानी में उबलवा कर, दोबारा धुलवा कर रोग के प्रभाव से मुक्त करना आवश्यक होगा। इस काम में तो हफ्ता-दस दिन लग जा सकते हैं ! इतने दिन वे ठहर कैसे सकते थे ?

शर्मा ने सोचा, सब स्थिति प्रिंसिपल साहब के सामने रख देना ठीक होगा। प्रिंसिपल साहब छुट्टियों में भी स्कूल के समीप ही सरकारी बँगले में रहते थे। उनके कहीं बाहर जाने की भी बात न थी। जायेंगे भी तो यह काम स्कूल के क्लर्क या चपरासियों को सौंप सकते हैं। आखिर जिम्मेवारी तो उन्हीं की है। कपड़ों को कीटाणुमुक्त (डिसइन्फेक्ट) कराने में और धुलवाने में जो व्यय होगा, उसकी मंजूरी भी तो प्रिंसिपल साहब ही दे सकते हैं।

शनिवार सुबह ही शर्मा प्रिंसिपल के बँगले पर पहुंचे। सम्पूर्ण स्थिति समझा कर अपनी विवशता प्रगट की कि अगले ही हफ्ते गाँव में उनकी बहिन का विवाह निश्चित है। इसलिए उनका पीछे टिके रहना सम्भव नहीं।

प्रिन्सिपल साहब अनुशासन की दृढ़ता के लिए प्रसिद्ध थे। शर्मा का लम्बा बयान सुन माथे पर त्योरियाँ चढ़ा, मेज़ पर हाथ

मार उन्होंने प्रश्न किया—"धोबी कपड़े नहीं ला सकता तो क्या स्कूल के चपरासियों से नहीं मंगाये जा सकते थे ?"

फिर मेज़ पर निश्चयात्मक घूंसा जमा कर उन्होंने हुक्म दिया—"मैं आज दोपहर तक गोदाम की चाबी चाहता हूं। कपड़ों को ठीक से धुलवाने की जिम्मेवारी सैनिक-शिक्षक की है, प्रिन्सिपल की नहीं। इस विषय में हम कुछ सुनना नहीं चाहते। हम आज शाम पांच बजे की गाड़ी से मंसूरी जा रहे हैं। स्कूल का सब सामान गोदाम में पहुंच कर हमें चाबियां तीन बजे तक मिल जानी चाहियें और रजिस्टर में सब अंदराज पर हमारे दस्तख़त हो जाने चाहिए।"

शर्मा स्तब्ध रह कर प्रिन्सिपल साहब की ओर देखते रह गए। उन्हें चुप खड़े देख प्रिन्सिपल साहब ने अपने माथे पर पड़ी त्योरियों को गहरा कर प्रश्न किया—"क्या आपने हमारी बात नहीं सुनी ?"

"जनाब, मैंने सुन लिया है"—जिम्मेवारी के बोझ से शर्मा की जिह्वा थुथला गई—"प—परन्तु······"

"सुन लिया है तो परन्तु क्या ?"—प्रिन्सिपल साहब मानों शर्मा की मूढ़ता पर झुंझला उठे।

"परन्तु वर्दियाँ डिसइन्फ़ेक्ट होनी चाहियें"—शर्मा ने साहस किया।

"हूँ"—प्रिन्सिपल साहब ने शर्मा की ओर घूर कर देखा। "डिसइन्फेक्ट होनी चाहियें ?···हम क्या कह रहे हैं ? आज तीन बजे से पहले वर्दियां डिसइन्फेक्ट हो सकती हैं ? वर्दियों के डिसइन्फेक्ट होने का खर्च किस मद में जायगा ? यह आप बता सकते हैं ?···इसके लिए पहले मंजूरी है ? यह मंजूरी आज आ सकती है ? मंजूरी आने तक वर्दियाँ कहाँ रखी जायँगी ?···ज़ाब्ते से छुट्टी के दिनों में वर्दियाँ कहाँ रखी जानी चाहिए ?···क्या उन्हें गोदाम के बाहर छोड़ा जा सकता है ?"—प्रिंसिपल साहब शर्मा की ओर घूरते रहे।

"परन्तु······"—शर्मा ने फिर साहस किया।

"आप बहुत परन्तु, परन्तु करते हैं। हम हुक्म दे चुके हैं।"—प्रिंसिपल साहब शर्मा को खड़े छोड़ भीतर चले गए।

शर्मा लौट कर आए तो उनकी समस्या हल हो चुकी थी। प्रिंसिपल साहब का हुक्म साफ था। परन्तु वर्दियों को रमजान धोबी के घर से मंगा कर जैसी की तैसी गोदाम में बन्द कर देने और फिर उन्हें विद्यार्थियों में बांट देने के परिणाम की कल्पना कर उन का सिर चकरा रहा था। उन्हों ने अपने मन को समझाया कि मैं अपना कर्त्तव्य पूरा कर चुका। मेरा फ़र्ज़ था प्रिंसिपल साहब के सामने स्थिति रख देना। मैंने वह कर दिया। वह सब दलीलें मन ही मन कर लेने पर भी शर्मा का मन न माना। पर वह कर ही क्या सकते थे?

स्कूल के चपरासी रमजान धोबी के घर से वर्दियाँ ले आए। वर्दियाँ गिन कर गोदाम में रख दी गईं और चाबियाँ प्रिन्सिपल साहब के सुपुर्द कर दी गईं। वर्दियों के इन्चार्ज की हैसियत से शर्मा को रजिस्टर में लिखना पड़ा—"पूरी वर्दियाँ सही हालत में मेरे सामने गोदाम में बन्द कर दी गई हैं" और इस विवरण पर दस्तख़त भी करने पड़े। उनके दस्तख़त के नीचे अलग स्याही से प्रिंसिपल साहब के भी दस्तख़त हो गए।

छुट्टियों के ढाई महीने में शर्मा जी को कई बार वर्दियाँ यों ही बन्द कर देने के परिणाम में भयंकर रोग के फैलने की आशंका का ध्यान आया। तब वे मन को समझा कर रह गए कि छुट्टियाँ समाप्त होने पर कुछ न कुछ हो जायगा।

जुलाई के दूसरे सप्ताह में कालिज खुलते ही सैनिक-शिक्षा के इन्चार्ज की हैसियत से शर्मा जी को प्रिन्सिपल साहब का निर्देश मिला कि प्रान्त के सभी कालिजों के सैनिक-विद्यार्थियों का कैंप होने जा रहा है। उनके कालिज के विद्यार्थियों को भी उसमें सम्मिलित होना होगा।

गोदाम की चाबी शर्मा जी को सौंपते हुए प्रिन्सिपल साहब ने हाकिमाना अंदाज में आदेश दिया—"शिक्षा-मंत्री कैंप का निरीक्षण करेंगे। हमारे विद्यार्थियों की तैयारी और वर्दियों के बारे में किसी प्रकार की शिकायत का अवसर नहीं होना चाहिए।"

चाबियाँ हाथ में लेते हुए शर्मा जी ने झिझक कर कहा—"परन्तु······।"

"परन्तु क्या ?"—प्रिंसिपल साहब ने शर्मा जी की ओर आँखें उठा कर पूछा।

"वर्दियाँ डिसइन्फेक्ट नहीं की गयीं।"

"क्या मतलब है ? लड़के कैंप में न जाएँ ?"

"हुजूर, लड़कों को वर्दियाँ देने की जिम्मेवारी मैं नहीं लेना चाहता। वे डिसइन्फेक्ट नहीं की गई हैं"—शर्मा ने साहस किया।

प्रिन्सिपल साहब ने विस्मय से आँखें फैला शर्मा की ओर देखा। उनके होंठ गम्भीरता से दब गए।

उन्हों ने मेज़ पर पड़ी घंटी को दबाया। चपरासी के आने पर उन्हों ने हुक्म दिया—"कलर्क बाबू को बोलो गोदाम का रजिस्टर लाएँ।"

प्रिंसिपल साहब ने शर्मा जी के सामने खुला रजिस्टर रख कलम की पूंछ से शर्मा जी के लिखे नोट की ओर संकेत कर दिया—"सब वर्दियाँ गिन कर ठीक हालत में मेरे सामने बन्द की गई"—और फिर शर्मा जी के दस्तखतों की ओर संकेत कर प्रश्न किया—"यह किसके दस्तखत हैं ?"

प्रिंसिपल साहब का अभिप्राय समझ कर भी शर्मा ने साहस किया—"हुजूर,···परन्तु मैंने वास्तविक अवस्था आप के सामने रख दी थी।"

प्रिंसिपल साहब झुंझला उठे—"मैं पूंछता हूं। यह क्या लिखा है ?"—रजिस्टर धमाके से बन्द कर वे बोले—"जो लिखा है वही मैं जानता हूं। मेरे पास कल्पनाओं के लिये समय नहीं।" और हुक्म दिया—"विद्यार्थियों को आज शाम कैंप के लिए रवाना हो जाना चाहिए। उन्हें वर्दियाँ तत्काल मिलनी चाहियें। अगर यह नहीं होता तो आप लिख कर मुझे अपनी सफ़ाई दीजिए कि रजिस्टर पर ग़लत नोट कैसे और क्यों लिखा गया ?"

"परन्तु······"

"फिर परन्तु···"–प्रिंन्सिपल साहब झुंझला उठे–"हम ज़बानी बात-चीत नहीं चाहते। आपका लिखा मौजूद है। अब जो कहना है वह भी लिख कर दीजिए। हमारा हुक्म आपने सुन लिया?"

विद्यार्थियों को वर्दियाँ देते हुए शर्मा जी के हाथ काँप रहे थे और कलेजा डूब रहा था परन्तु लाचार थे। अपने मन को समझा देना चाहते थे कि उन्होंने स्थिति प्रिंसिपल साहब के सामने रख कर अपना कर्तव्य पूरा कर दिया है परन्तु सन्तोष न हुआ।

कालेज के विद्यार्थियों को कैंप पर गए एक सप्ताह ही बीता था कि समाचार आया कि कैंप में चेचक फूट निकली है और उनके कालेज के दो विद्यार्थियों की मृत्यु इस रोग से हो गई है।

कुछ दिन बाद शिक्षा विभाग के प्रान्तीय कार्यालय से इस बारे में जाँच पड़ताल हुई। पूछा गया कि यह बीमारी कैंप में फैलने के क्या कारण हो सकते हैं। कालेज इस बारे में क्या सफ़ाई दे सकता है?

प्रिंसिपल साहब ने फिर शर्मा जी को तलब किया और शिक्षा-विभाग के प्रान्तीय दफ़्तर से आया पत्र उनके सामने रख कर प्रश्न किया—"इस बारे में आपका क्या जवाब है?"

शर्मा प्रिंसिपल साहब की ओर देखते रह गए।

"क्या आप ने सुना नहीं?"—कड़े स्वर में प्रिंसिपल साहब ने प्रश्न किया।

"मैंने तो इस विषय में सब स्थिति उसी समय आपके सामने रख दी थी"—शर्मा जी ने उत्तर दिया।

दोनों कोहनियाँ मेज़ पर जमा और हाथों के पंजों को मजबूती से आपस में फँसा, शर्मा की आंखों में देखते हुए प्रिंसिपल साहब ने प्रश्न किया—"स्थिति हमारे सामने रख दी थी?······इन वर्दियों की सफ़ाई के लिए जिम्मेवार कौन था?······वर्दियाँ गोदाम में बन्द करते समय आपने क्या नोट गोदाम के रजिस्टर में लिखा था?"

शर्मा जी कुर्सी से उठ खड़े हुए। उनके चेहरे पर वैसी ही मुद्रा दिखाई दी जैसी कि कुत्तों के भय से भागती बिल्ली के चेहरे पर आगे कोई रास्ता न दिखाई देने पर आ जाती है।

"वह नोट मुझ से लिखाया गया था। विद्यार्थियों को वर्दियाँ बांटी जाने से पहले भी मैंने चेतावनी दे दी थी। अब इस बारे में मुझे जो सफ़ाई देनी है, लिख कर पेश कर दूंगा"—शर्मा जी ने उत्तर दिया।

"मुझे मालूम तो हो आप क्या लिख देंगे ?"—प्रिंसिपल साहब का स्वर नरम हो गया—"आप का उत्तर मेरी ही मार्फ़त जायगा। मुझे उस पर नोट भी लिखना होगा।"

"पूरी घटना आपको मालूम है। मैं और क्या लिख सकता हूँ"—शर्मा संकट का सामना करने की दृढ़ता से बोले।

"आप बैठिए"—प्रिंसिपल साहब ने शर्मा को बैठने का संकेत किया—"अपनी जिम्मेवारी को समझिए और बात में जाब्ते का ख़याल रखिए। सरकारी काम कहा-सुनी और अफ़वाहों के आधार पर नहीं, लिखे हुए हुक्मों और नियमों के अनुसार चलते हैं। अनुभवहीनता में अपना नुकसान न कर बैठिएगा।……आपने अभी काम शुरू किया है। पूरा भविष्य आपके सामने है। आप परिश्रमी और चतुर नवयुवक हैं परन्तु सब से आवश्यक चीज़ है, अनुभव ! जाब्ते की जानकारी !…समझ रहे हैं आप ?"—प्रश्नात्मक दृष्टि से प्रिंसिपल साहब ने शर्मा की आँखों में देखा।

शर्मा को स्वीकृति में सिर झुकाते देख प्रिंसिपल साहब बोले—"संस्था के प्रधान व्यक्ति काम को अपने हाथ से नहीं करते। उनका काम मातहतों के काम की निगरानी है। इस घटना के ब्यौरे से मेरा क्या सम्बन्ध ? मेरा काम है, यह देखना कि आपने अपना कर्तव्य ठीक से निबाहा है और यह कि आप उत्तर देने में किसी ग़लती से झंझट में न पड़ जायँ। उत्तर ऐसा होना चाहिए जो हमारे रिकार्ड से सही प्रमाणित हो।…समझते हैं आप ? यानी उत्तर जाब्ते के अनुसार होना चाहिए। हमारा रिकार्ड और रजिस्टर

कहता है कि आपने सब काम जाब्ते से किया।......बीमारियाँ आकस्मिक घटना के रूप में भी होती हैं। हमारे रिकार्ड में उसका कोई कारण मौजूद नहीं।"

प्रिंसिपल साहब को शर्मा जो के चेहरे पर नैतिक उत्पीड़न के चिन्ह दिखाई दे रहे थे। समवेदना में अपने शरीर को कुर्सी पर ढीला छोड़ वे और भी कोमल स्वर में बोले—"आपने एम० एस० सी० किस वर्ष पास किया था?"

"सन् १९४० में"

"आप तो फ़र्स्ट डिविज़नर हैं?......शायद रिसर्च भी तो किया है आपने?"

"जी हाँ"

तो फिर बोर्ड के कालिज में अपना भविष्य क्यों ख़राब कर रहे हैं? यूनिवर्सिटी के ग्रेड के लिए आप कोशिश क्यों नहीं करते? इस समय डिग्री कालिज में विज्ञान विभाग में जगह है। मैं प्रो० कामगार को लिख सकता हूं। आप इसके लिये आवेदन पत्र क्यों नहीं देते? मैं इस बात का प्रमाण पत्र दे सकता हूं कि आपका शिक्षण और प्रबन्ध दोनों ही कामों का रिकार्ड बहुत अच्छा है। आप आवेदन पत्र लिखिए। आपके काम का रिकार्ड बेदाग़ है। लेकिन आप इस घटना का उत्तर जाब्ते के खिलाफ़ लिख कर अपना रिकार्ड और भविष्य खराब करना चाहें तो दूसरी बात है। समझ गए आप"?

शर्मा के चेहरे से उत्तेजना का भाव दूर हो गया देख प्रिंसिपल साहब को विश्वास हो गया कि शर्मा उनकी बात समझ गए हैं। उनका ख़याल ग़लत भी न था।

शर्मा का नैतिक मन इस घटना से भयंकर चोट खा गया था। वे बेईमानी के लिए विवश कर देने वाली इस पराधीनता से निकल यूनिवर्सिटी-ग्रेड की स्वतंत्र नौकरी के लिए छटपटा रहे थे परन्तु जाब्ते की पराधीनता के इस जाल से निकल पाने के लिए जाब्ते से ही व्यवहार करना आवश्यक था।

४

अगर हो जाता

इस पहाड़ी जिले में अनेक छोटे-छोटे नदी, नाले और खड्डु हैं। सरकार जानना चाहती थी कि स्थान-स्थान पर बाँध लगा कर मछलियों का व्यवसाय बढ़ा सकने की क्या सम्भावना है? इसी बात का निरीक्षण करने के विशेष ड्यूटी पर इंजीनियर राजनाथ इस पहाड़ी नगर में टिका हुआ था।

नदियों को वश में कर लेना हँसी-खेल नहीं। उन की पालक और ध्वंसक, दोनों ही शक्तियाँ महान हैं। इसीलिये हमारे पूर्वज नदियों को मस्तक नवा कर और उनकी पूजा करके, उन्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा करते रहते थे। जाड़े की ऋतु में जब पहाड़ की चोटियों पर बरफ़ का पिघलना कम हो जाता है, बर्फानी नदियाँ और नाले सिकुड़ने लगते हैं, कुछ अन्तर्ध्यान ही हो जाते हैं। गरमियों में यह नदी नाले फिर प्रकट हो जाते हैं और सोतों से फूटने वाले लोप हो जाते हैं। बरसात में इन नदी-नालों की दुर्द्धर्श शक्ति सहस्रों गुणा बढ़ जाती है। पुलों और बाँधों की तो बात क्या, ये नदी-नाले अपनी शक्ति के मद में पहाड़ों तक की पीठ पर आघात कर उन्हें गिरा देना चाहते हैं। इसलिये इन नदियों के व्यवहार में हाथ डालने से पहले इनके मिजाज़ को सभी ऋतुओं में पहचान लेना आवश्यक होता है।

ओवरसियर लोग कुछ-कुछ दिन बाद जा कर, खास-खास स्थानों पर नाप-जोख करके अपनी रिपोर्टें नाथ साहब के पास भेजते रहते थे। इन रिपोर्टों के आधार पर इंजीनियर साहब अपनी गणना तथा योजना का आधार निश्चित कर रहे थे। विश्वस्त रूप से पूरी योजना पूरी बरसात की नाप-जोख के बाद ही बन

सकती थी। नाथ साहब वर्षा ऋतु को उस के निश्चित काल से पहले समाप्त नहीं कर दे सकते थे। उन्हें परेशानी भी क्या थी? तनखाह जैसी इलाहाबाद, लखनऊ में मिलती, वैसी यहाँ मिल रही थी, भत्ता अलग और गरमियों में पहाड़ पर रहने का अवसर!

परन्तु, गरमियों में पहाड़ पर रहने के अवसर से मतलब? एक पहाड़ शिमला, मंसूरी और नैनीताल हैं, जहाँ तफरीह का जश्न जमता है। लोग जी भर कर मौज करके अपने-अपने कामों पर लौट जाते हैं। नाथ भी पहाड़ पर थे, परन्तु वैसे पहाड़ पर नहीं। इस पहाड़ को लोग प्रायः अवकाशप्राप्त (रिटायर्ड) लोगों का पहाड़ कहते हैं। गलत भी नहीं कहते। रेलवे स्टेशन से पूरे दिन का रास्ता बस में तय करके केवल रविवार की तफ़रीह के लिये कोई यहां कैसे आय? तफ़रीह के लिये यहाँ है भी क्या? पहाड़ की रीढ़ पर बसी बस्ती से दृष्टि तरल हवा पर तैरती हुई दूसरी और पहाड़ियों की रीढ़ों पर चिर-विश्राम करती वन-राशियों को देख सकती है, आकाश में समीप ही और प्रायः सड़क से नीचे घाटी में भी, बादलों के मचलने में धूप-छाया का खेल देखा जा सकता है। संध्या समय वृत्ताकार, एक के पीछे एक, झांकती हुई पहाड़ियों की प्राचीरों के ऊपर अनेक रंग की पिघली हुई आग की होली या स्थिर आतिशबाज़ी का खेल देखा जा सकता है। वर्षा लग जाने पर अनवरत झाड़ियाँ। कभी चारों ओर से घिरी घाटियों में धुनी हुई रुई के-से बादलों का उमड़ आना, जो अपने पर्दों में सब-कुछ छिपा कर, अनन्त का-सा दृश्य बना देते हैं। और कभी-कभी बादलों के घूंघट से त्रिशूल और 'चौखम्भा' की चोटियों का दर्शक की उत्सुक प्रतीक्षा पर निर्दय कटाक्ष कर मुस्करा देना···बस, ये चोटियाँ ही तो इस पहाड़ी नगर में मुस्कराती हैं; आदमी नहीं मुस्कराते।

बादलों, पहाड़ों और वन राशियों को आदमी कहाँ तक देखता रहे? आदमी तो आदमी को देखना चाहता है। यहां एक बाज़ार है, बहुत लम्बा-सा, चकले पत्थरों से मढ़ा बाज़ार : दूर जहाँ पहाड़ी-देहात से आये पहाड़ी अपनी ज़रूरत का सौदा जल्दी-जल्दी खरीद कर रात पड़ने से पहले अपने घर पहुँच जाना चाहते हैं। कभी-

कभी पल्टन से छुट्टी पर आये सिपाही देहात से अपनी बहू को साथ ला कर, उसकी पसन्द से घाँघरे का कपड़ा, नमक, तम्बाकू और गुड़ खरीदने या ताँबे की गागर का शौक पूरा करने के लिये इस बाजार में घूमते दिखाई देते हैं। परन्तु वे भी चतुर दूकानदार द्वारा ठगे जाने के भय से आशंकित और जल्दी गाँव लौट जाने के लिये चौकस। इस बाज़ार के दोनों ओर फैली हुई ढलवानें कई मुहल्लों और बँगलों का बोझ कंधों और कमर पर उठाये है। नीचे है साफ़-सुथरी माल रोड, अंग्रेज़ी प्रभाव से बसा नगर का आधुनिक भाग। सड़क के किनारे कुछ दफ्तर हैं और आधुनिक आवश्यकताओं को पूरा करने वाली कुछ दूकानें।

इंजीनियर राजनाथ का आना-जाना प्रायः इसी सड़क पर होता है। लोग प्रायः ही बिना क्रीज़ की पतलून पहने, देशी टोपी कानों तक दबाये और छतरी को छड़ी की तरह टेकते जल्दी-जल्दी चलते दिखाई देते हैं। स्कूल से आते-जाते लड़के-लड़कियां भी दिखाई देते हैं। या दिखाई देती हैं सिरों पर घास और ईंधन के बड़े-बड़े बोझ उठाये निम्नतम श्रेणी की स्त्रियाँ, जिनके चेहरे सिर पर लदे चारों ओर झुके बोझ के भीतर छिपे रहते हैं और जिन्हें अपने शरीर की अपेक्षा बोझ का ही ध्यान अधिक रहता है। उनकी ओर नाथ क्या देखे? जिस धन को स्वामी नहीं सँभालता, उसकी ओर दूसरों की दृष्टि भी नहीं जाती। भले घरों की स्त्रियाँ यहाँ प्रायः बाहर नहीं निकलतीं। निकलती हैं तो सन् १९५० में भी आस्तीन से कलाई तक बाहें ढँके, कमर पर साड़ी का अनावश्यक घेर बना कर शरीर की आकृति को छिपाये, निगाह को सड़क पर गड़ाये चली जाती हैं; जैसे खोई हुई चाँदी की दुवन्नी ढूँढ़ रही हों।

जाल-वायु स्वास्थ्य के लिये अच्छा समझा जाता है। परन्तु स्वास्थ्य का भी प्रयोजन होता है। स्वास्थ्य का प्रयोजन केवल नदियों और खड्डों में जल की गहराई, चौड़ाई और वेग नाप कर उस में बहने वाले जल की प्रवाह-शक्ति का हिसाब लगा लेना ही नहीं है। यह सब तो किया जाता है जीवित रहने के लिये। जीवित रह कर कुछ और भी किया जाता है, कुछ और भी कर

पाने की इच्छा होती है। नाथ का सम्बन्ध भौतिक जगत से है। अज्ञेय जगत की मीमांसा और पार्थिव से निवृत्ति-द्वारा शान्ति की प्राप्ति में उसकी आस्था नहीं है। जवानी के उद्दाम उच्छ्वास से कुलाँचे भरने के लिये वह उतावला न सही, परन्तु वह जीवन से हाथ भी नहीं धो बैठा है। देश में अपने मकान से आये उसे चार मास से अधिक हो गये। कभी-कभी वह स्त्री का चेहरा देखने और उसका स्वर और उस की हँसी सुन पाने की इच्छा-सी अनुभव करने लगता है।......पहाड़ी प्रदेश के विपुल प्राकृतिक सौन्दर्य में वह तो है नहीं। प्राकृतिक सौन्दर्य उसे अनावश्यक वर्षा और नदी में व्यर्थ वह जाते जल की भाँति निष्प्रयोजन जान पड़ने लगता है।

ऐसी अवस्था में नाथ अपने दिमाग़ पर छा गयी काई को दूर करने के लिये इस नगर के एक मात्र सिनेमा-घर में जा बैठता है। सिनेमा का आकर्षण उसने पहले कभी इतना अनुभव नहीं किया। फिल्मों के अस्वाभाविक चित्रण से उसे विरक्ति ही थी, जैसे गवाही में असह्य झूठ सुन कर कोई जज खीज उठे। अब फिल्मों में उसे वही दिखाई देने लगा जिसका कि नित्य जीवन में अभाव था। अब नाथ को उससे उबकान न होती। वह उसे ऐसे निगल जाता जैसे बिना नमक का खाना खा कर चुटकी भर नमक फाँक लिया जाय। वह नयी-नयी फिल्मों की प्रतीक्षा करने लगा और प्रत्येक फिल्म को पहले ही 'शो' में देखने लगा।

नगर के अनुरूप ही सिनेमा-घर भी है, उदास और ऊँघता सा। किसी समय किया गया हरा या नीला रोगन अब समय और सीली हवा के प्रभाव से रूखा आसमानी सा हो गया है। तेल के इंजन से डायनेमो और डायनेमो से बिजली की मोटर चला कर फिल्में दिखाई जाती हैं। कभी-कभी मशीन गड़बड़ा जाती है तो आठ-आठ, दस-दस मिनिट तक फिल्म रुक जाती है और कुछ मिनट के लिये रोशनी होती रहती है। टीन की ढालू छत के नीचे चटाई का समतल अस्तर दे देने से, शोभा में चाहे वृद्धि न हुई हो, आवाज़ गूंज नहीं पाती। सब से ऊँचे यानी दो रुपये दस आने के दर्जे में भी कुछ गद्दीदार बेंचे कोच के रूप में, कुछ दफ्तरी कुर्सियाँ

और कुछ आराम-कुर्सियाँ पड़ी रहती हैं। इस दर्जे के आगे, अगल-बगल गैलरी पर बिना बाँह की कुर्सियाँ ऊँचे दर्जे की ओर पीठ कर के, आगे-पीछे रख कर, मध्य श्रेणी का टिकट खरीदने वाली स्त्रियों के लिये स्थान बना दिया गया है। इन की पीठ के पीछे बैठने वाले ऊँची श्रेणी के दर्शकों की निगाह से महिलाओं के बचाव के लिये पर्दे टाँगने की लोहे की छड़ें लगी हैं। इन में पीतल के छल्ले भी झूल रहे हैं। पर्दे एक बार फट जाने के बाद फिर लगाये नहीं गये शायद इस बीच में पर्दे का रिवाज़ कुछ कम हो गया।

इंजीनियर नाथ इस सिनेमा-घर में आता है तो सब से आगे, बीच की आराम-कुर्सी पर बैठ कर पाँव फैला लेता है और सिगरेट सुलगाये, फिल्म की कहानी की उपेक्षा कर, केवल चेहरे देखता हुआ गाना सुनता है। सिनेमा को वह मुजरे और सरकस के मेल के रूप में देखता है। जितनी देर फिल्म रुक कर रोशनी रहती है, अगल-बगल गैलरियों पर नज़र जाती ही है परन्तु कभी कोई उत्साह उसकी आँखों को वहाँ से नहीं मिला।

हाँ, उस रोज ; जब वह 'तूफान' फिल्म देखने गया तो गैलरी में सब से इधर की कुर्सी पर उसे एक युवा लड़की या युवती दिखाई दी। कोहनी से खूब ऊंची आस्तीन का बहुत चुस्त ब्लाउज़ पहने। ब्लाउज़ ऐसा चुस्त कि केवल शरीर के रंग को छिपा कर आकृति को और भी उभारे हुए। आकृति के उभार और दबाव को और चोखा कर देने के लिये ब्लाउज में चोली के भाग का रंग शोख सुर्ख और शेष कपड़ा शरीर के ही रंग का। साड़ी भी शरीर को छिपा देने के लिये लहंगे की तरह नहीं, बल्कि जैसे बोतल पर महीन कागज कस कर लपेट दिया गया हो।

मशीन सिंगल चल रही थी। बार-बार रोशनी होती और नाथ की निगाह उस ओर जाती। दिखाई, केवल बाँह, पीठ पर साड़ी और ब्लाउज़ के अन्तर से रीढ़ की गहराई और चेहरे का बांई ओर का भाग ही, पड़ रहा था; परन्तु इतने से क्या शेष का अनुमान नहीं हो सकता? नाथ का ध्यान फिल्म की ओर रहा ही नहीं।

रोशनी होने पर वह युवती भी मुड़ कर अपने साथ बैठी बहुत

कुछ अपने ही जैसी वेश-भूषा की सहेली से बात करती। नाथ को उस की आँखें और दाँत भी दिखाई दिये, कितने सजीव! औचित्य का खयाल कर जितना देखा जा सकता था, नाथ देखता रहा और अनुमान करता रहा, आयु?······विवाहित है?······हो भी तो······?

सिनेमा समाप्त हो गया। नाथ बाहर आया। उसने देखा, वे दोनों सड़क पर आईं और एक मिनट बात करने के बाद माल रोड पर दक्खिन की ओर चल दीं। नाथ को सहसा ख्याल आया —फिर कैसे देख सकेगा? जैसे भीड़ में खो गया कुत्ता मालिक को पा जाने पर नज़र से ओझल नहीं होने देना चाहता! चाव की पगलाहट में नाथ वह कर बैठा जो उसे नहीं करना चाहिये था और जिस बात की उस से आशा नहीं की जा सकती थी। वह उन के पीछे-पीछे चल दिया।

हल्की-हल्की फुहार पड़ रही थी, ऐसी कि छतरी होने पर भी बाँह से लटकी ही रह सकती है। सड़क रात के दस बजे के लगभग सुनसान हो चुकी थी। विरला ही कोई कहीं अटका रह गया व्यक्ति आ-जा रहा था। दूर-दूर लगे खम्भों से भी सड़क पर बिजली की रोशनी यथेष्ट थी। बिजली की बत्ती के नीचे से गुज़रते समय उस सुडौल शरीर की, चलते समय माँसपेशियों की गति वस्त्रों में से झलक जाती थी। नाथ सीली सर्दी में उस शरीर की ऊष्मा के स्पर्श के लिये, उस शरीर को अपनी बाँहों में पाने के लिये एक उष्ण बेचैनी में पीछे-पीछे चला जा रहा था।

सड़क पर हल्की चढ़ाई आरम्भ होने पर नाथ का श्वास वेग से चलने लगा। उसे आशंका होने लगी, इस शब्द से वे पीछे घूम कर न देख लें। कुछ दूर चढ़ाई पर चढ़ते-चढ़ते वे सहसा सड़क के किनारे से उठती सीढ़ियों पर चढ़, एक बड़ी दीवार में बने फाटक के भीतर जा छिपीं।

सड़क पार सामने ही खम्भे पर लगी बिजली की रोशनी में नाथ ने फाटक के समीप बोर्ड पर पढ़ा—'नागरिक लड़कियों का स्कूल'। चढ़ाई चढ़ने की थकावट के बाद, सड़क सूनी होने के कारण नाथ को उन सीढ़ियों पर बैठ जाने में कुछ संकोच नहीं

हुआ। जिन सीढ़ियों पर सैंडल रख कर 'वह' अभी चढ़ गयी हैं, उन पर बैठ जाना नाथ को अच्छा ही लगा, जैसे उसी के कदमों में बैठ गया हो ! यह अपने मन को ठगना-भर था, वह तो पहुँच के बाहर जा चुकी थी।

नाथ ने बेवसी की साँस लेकर सोचा, वह कर ही क्या सकता था ? बात करता तो क्या, और किस बहाने ? सहसा उसे अपने कुछ ज़िन्दादिल मित्रों का साहस याद आ गया। वे आगे बढ़ कर कह सकते थे–'फुहार पड़ रही है। यह छतरी आप ले लीजिये" और फिर छतरी लेने जाने से परिचय का अच्छा-खासा आरम्भ ! या कोई कल्पित नाम लेकर, मिस क्लीमेंट ही सही, पूछा जा सकता था—"आप मिस क्लीमेंट को जानती हैं ?···ओह, शायद वे आज-कल यहाँ नहीं हैं। पहले यहाँ स्कूल में पढ़ाती थीं।' या रहने लायक स्थान बताने के लिये सहायता की प्रार्थना की जा सकती थी ; बात आरम्भ होने पर बात निकलती ही है।

नाथ अवसर चूकने की अपनी कायरता के लिये पछता रहा था, और सूनी सड़क के किनारे सीढ़ियों पर बैठा अपनी कल्पना में उस सुडौल-छरहरे शरीर को बिना श्रम की चाल से भीगी सड़क पर बढ़ते जाते देख रहा था। शरीर की आकृति से चिपके शरीर के रंग के ब्लाउज़ पर दूसरे रंग की चोली, जो शरीर के आकर्षण को छिपाने के लिये नहीं बल्कि उस ओर पुकारने के लिये लगाई गई थी और बाँह की लपेट में आ सकने योग्य कमर के नीचे पुष्ट जाँघों का सरल गति से अलग-अलग क़दम उठाते जाना······। नाथ को पश्चात्ताप हो रहा था, वह क्यों चूक गया।

साहस और दृढ़ निश्चय से उसने सोचा—अभी न सही; जगह तो देख ही ली है। स्कूल की अध्यापिका है।—उसने अँग्रेजी में सोचा—अध्यापिका ही बनने के लिये कोई स्त्री पैदा नहीं होती। मैं चाहूँगा तो यह होगा। जो भी आवश्यक होगा मैं करूँगा।' उसे इक्कीस वर्ष से शनैः-शनैः संचित अपनी बैंक की जमा का ख्याल आया। सड़क पर दिखाई देते, ब्लाउज़ और साड़ी में लिपटे दुर्दमनीय आकर्षण को बाँहों में ले पाने के अवसर के लिये वह सब बाज़ी पर लगा देने के लिये तैयार हो गया।

सीढ़ियों पर बैठे-बैठे नाथ की कल्पना में फुहार से भीगी सड़क भी मिट गई और केवल वह छरहरा और सुडौल शरीर ही दिखाई देने लगा। कुछ देर बाद, क्यों कि जीवन के समान ही कल्पना का भी गुण गति है, वह उस शरीर को अपनी बाँहों में अनुभव करने लगा; एक छोटे निराले मकान में लम्बे सहवास में और उस छरहरे, सुडौल, मस्तानी चाल से चलते शरीर के साथ ही, जाँघ से चिपकी उस सुन्दर बाँह के नीचे बढ़ी हुई उँगली को थामे, कत्थई-सुनहरे-घुँघराले केशों से भरे शिर का एक शिशु भी अपनी फूली-फूली टाँगों से लट-पट चलता उसे दिखाई देने लगा।

नाथ कल्पना में संतोष की पूर्णता अनुभव कर रहा था—यही सौन्दर्य की पूर्णता और सफलता है कि वह सौन्दर्य की सृष्टि भी कर सके।···उस पेड़ का सौन्दर्य क्या, जो फल नहीं देता ? नाथ की कल्पना और आगे बढ़ी—इस सौन्दर्य की रक्षा के लिये छत्र-छाया के रूप में रक्षक एक सबल बाँह, उसकी अपनी बाँह !

मन में गर्मी लिये उस सीली सर्दी में ठंडी सीढ़ियों पर बैठे रहना असुविधाजनक होने लगा। उसकी कल्पना ठिठक गयी।···नहीं, उसकी बाँह; नहीं हो सकती !···यह वह नहीं कर सकेगा !······ जिम्मेदारी को एक जगह तोड़ कर दूसरी जगह कैसे निभाया जा सकता है···? उसकी सामाजिक स्थिति ?···उसकी आयु के विचार से भी···?

तो······?

उसका विवेक जाग उठा ! वह अपने से ही तर्क करने लगा, फूलों से लदी डाल को केवल पाँव तले कुचल डालने के लिये तोड़ लिया जाय···? उस में लगने वाले फलों की सम्भावना समाप्त कर, डाल को केवल एक दिन फूल-दान में रखने के लिये तोड़ लिया जाय···? उसका मन कड़वा हो गया; अच्छा ही हुआ, वह बोल न सका। वह अपनी प्रतारणा करने के लिये फुहार से भीगी सड़क पर अपनी परछाईं को अपने ही पाँव से कुचलता, अपने निवास-स्थान की ओर लौट गया।

परन्तु इतने से अपने भटकाव के प्रति ही नाथ के मन की ग्लानि समाप्त नहीं हुई। वह टाल्सटाय और गाँधी के विचारों से

सहमत है। मन में आये पाप से मुक्ति का एक उपाय उसने पढ़ा है—मन में आये कुविचारों को साहस से कह डालना···।

एक बरसती साँझ जब मकान से निकलना कठिन था, उसने पूरी बात लिख डाली और सच्ची कहानियाँ प्रकाशित करने वाली एक पत्रिका में भेज दी।

उसकी कहानी पत्रिका में छप भी गई।

× × ×

इस छोटे-से नगर में लड़कियों के स्कूल की अध्यापिकाओं का जीवन शेष नागरिकों के जीवन की भाँति ही या उससे भी कुछ अधिक नीरस और घटना-शून्य रहता है। रविवार का दिन सिर और कपड़े धोने में या नगर में किसी परिचित परिवार में सहेली से मिल आने में चला जाता है। इसाई अध्यापिकायें अलबत्ता सुबह गिरजाघर जा कर इसाई समाज में मिल-जुल सकती हैं और इस महँगी के जमाने में बिना अंडों के केक बनाने के नुसखे और पुरानी साड़ियों को नयी-सी दिखा सकने के तरीकों पर विचार कर सकती हैं। शेष पढ़ाई के दिनों में दिन भर लड़कियों को पढ़ाने के बाद सांझ को स्वेटर-मोज़े बुनते हुये, अपने भविष्य पर विचार कर, आशा-निराशा की उधेड़-बुन करने के अलावा कहानियों की पत्रिका पढ़ कर दिल हल्का कर सकती हैं। दूसरा उपाय ही क्या है ?

मिस सविता पिछले दिन कुछ बुनने के लिये ऊन लेने बाज़ार गई थीं तो उस मास की 'सच्ची कहानियां' भी लेती आई थीं। दिन भर लड़कियों को उत्तर-भारत की पर्वत-श्रेणियों के नाम रटाने और अन्त में जहाँगीर के शासन-काल में नूरजहाँ के प्रभाव का वर्णन करने के बाद, थकावट से लेट 'सच्ची कहानियाँ' के पन्ने पलटने लगी।

एक कहानी का शीर्षक 'अगर हो जाता' देख कौतूहल से उसे ही पढ़ने लगी। कहानी में अपने ही नगर का हूबहू वर्णन देख कौतूहल बढ़ा। जब जुलाई मास के अन्तिम सप्ताह में 'तूफान'

फिल्म की भी बात आई तो जैसे उस में गड़ ही गई। याद आया कि वह भी उसे देखने गई थी।

दुरंगे ब्लाउज की चर्चा देखी, तो मुंह से निकल गया—"हाय मर गई!" सिर चकरा-सा गया। पत्रिका हाथ से खिसक-ही गई। परन्तु उँगलियों ने उसे लोहे की-सी मज़बूती से जकड़ लिया और साँस रोक कर पढ़ गई। पसीना आ गया। मानो किसी ने दुस्साहस कर उस के नाम प्रेम-पत्र लिख दिया हो! लेकिन "हाय अखबार में?"

लेटी न रह सकी, उठ बैठी। बैठने से भी चैन न आया तो टहलने लगी। लज्जा से सोचा, पत्रिका को जला दे।······परन्तु पत्रिका तो केवल एक ही नहीं छपी होगी,······वैसा ब्लाउज स्कूल में सिवाय उस के और किस के पास है?···क्या करे?······ अगर वह पुकार बैठता, तो?

सविता कमरे के भीतर लौट आई। कहानी फिर ध्यान से पढ़ी। पढ़ने के बाद सिर पीछे कर, गर्दन सीधी कर ली और मन-ही-मन साहस से कहा—"किसी का शरीर है तभी तो अच्छा लगा!"

आईने के सामने खड़ी हो उसने अपना चेहरा देखा और फिर आईने से दूर खड़ी हो कर शरीर को। और फिर निस्संकोच अपनी बात का समर्थन किया,—'ठीक ही तो है!'

दोनों हाथ सिर के नीचे रख वह चित्त लेट गई। ऐसी बेचैनी अनुभव हो रही थी, जैसे कोई बड़ा भारी कल्पनातीत खजाना अपने घर में मिल गया हो और वह उसकी बात होंठों पर न ला सकती हो।

और फिर सोचा—'अगर पुकार लेता?···अगर पुकार लेता तो······?' उसके हृदय से इतनी गहरी सांस उठी कि खड़ी हो जाने के लिये विवश हो गई। वह झुंझला उठी—"इस में अपमान क्या······? एक दिन ऐसा क्यों न होगा?"

अभी समय था। झपट कर, वह अपनी सहेली लीला के कमरे

में पहुँची और मचल कर आग्रह किया—"चलो, आज सिनेमा जरूर चलेंगे !···

चलने से पहले उस ने कितने ध्यान और साहस से ड्रेस किया। वह दुरंगा ब्लाउज बार-बार हाथ में आ जाता था और हाथ से गिर पड़ता था। उतना साहस न हुआ।

वह फिर उसी कुर्सी पर बैठी, जहाँ डेढ़ मास पूर्व 'तूफ़ान' देखने के लिये बैठी थी। उसका माथा झनझना रहा था। घूम कर पीछे देखने का साहस न था परन्तु अपनी पीठ पर उसे निगाहें चुभती-सी जान पड़ रही थीं। बिना कुछ देखे और सुने, सिनेमा का आधा समय उसने जैसे-तैसे बिता दिया।

उस ने निश्चय कर लिया कि आधे में रोशनी होने पर वह उधर गुसलखाने की ओर जायगी। जाते समय उधर देखने में कोई कुछ न कह सकेगा। वह एक बार ज़रूर देखेगी, ज़रूर, ज़रूर!

आखिर उसने धड़कते हुये दिल को वश में करने के लिये दाँत दबा कर उधर देखा, कई आदमी थे। वह किसी के भी चेहरे को स्पष्ट देखने का साहस न कर सकी। उसने सोचा—'वह कौन हो सकता है ?···क्या वह आज नहीं देख सकेगा !···मैं नहीं देख सकती, वह तो देख सकता है !"

सिनेमा समाप्त हो जाने पर निराशा और असफलता से डूबता हृदय लिये वह उठी। सड़क पर बिजली के प्रकाश में भी उसे कोई नहीं देख रहा था। लौटते समय अपने सैंडल की आहट के अतिरिक्त और कोई आहट पीछे से सुनने के प्रयत्न में वह दो बार लड़खड़ा भी गई। उस समय खिन्न होने के बजाय उसने; अवसर पा पीछे घूम कर देख लिया······परन्तु कोई न था।

लौटने पर, जैसे उसकी तबीयत खराब हो गयी। वह खाट पर लेट गयी। उसके प्राण मूक पुकार में चीख रहे थे—क्यों नहीं हुआ···! एक बार वह अपने अस्तित्व को अनुभव कर लेती!

वह उठी और लैम्प स्टूल पर रख एक बार फिर उस कहानी को पढ़ने लगी···बाहों में दबा ली जाने की बात! उसका रोम-रोम सिहर उठा। उसकी उँगली पकड़ कर सुन्दर शिशु के चलने की

बात !···उसकी छाती गर्व से उभर आई।······छत्र-छाया के रूप में सहारे के लिये कभी धोखा न देने वाली बाँह !···उसे जान पड़ा, जैसे उसकी खाट टूट कर वह नीचे खाई में, अनन्त खाई में गिरी जा रही है।

सुध आने पर जान पड़ा, सिर में चक्कर-सा आ गया था······'कितना बड़ा धोखा हो जाता ! ओफ, अगर हो जाता······? तो···?'

क्रोध में वह पत्रिका को मरोड़े जा रही थी कि उसे चूरा चूरा कर के, उसका निशान तक मिटा देगी।

'ओफ़, अगर हो जाता तो······?' ओफ़, बच गई !"

४

अंग्रेज़ का घुंघरू

कुछ बरस पहले सरकारी अफसर दौरे के लिये अवसर की प्रतीक्षा में रहते थे। तफरीह होती थी और कमाई का भी कुछ डौल हो जाता था। अब भत्ते में कमी और महंगाई ने स्थिति बदल दी है। पहाड़ी इलाकों में तो और भी मुश्किल !

यों अल्मोड़ा जिला सुहावना है। घने, हरे जंगलों से छायी, एक के पीछे से झांकती अनेक पर्वत–श्रेणियाँ। घाटियों में विशाल सरकस की गैलरियों जैसी हरी मखमल से मढ़ी खेतों की सीढ़ियां। बीच-बीच में बल खाते चांदी से पटे रास्तों जैसी जल की धारायें जगह-जगह दिखाई देती रहती हैं। इन दृश्यों के लिये शौकीन लोग और यहां के स्वास्थ्यवर्धक जलवायु के लिए रोगी दूर-दूर से आते हैं परन्तु वहां तक ही जहां मोटर की सड़क उन्हें सुविधा से ले जा सके। बीहड़ उतार-चढ़ाव के रास्तों पर गाड़ियों की पहुँच संभव नहीं। पैदल चलने से शरीर का सार पसीना बन कर चोटी से एड़ी तक बह जाता है। टट्टू पर लद कर चलने से शरीर की दशा ऐसी हो जाती है जैसा टांके टूटी रजाई को झाड़ देने से उस में रुई की अवस्था हो सकती है। पैसे का दाम अब कुछ रहा नहीं। सरकार द्वारा निश्चित मजदूरी में कुलियों को बोझा ढोने का उत्साह नहीं होता। अपनी जेब का पैसा खर्च करके दौरा करने का साहस केवल तनख्वाह में ही निर्वाह करने वाले अफसर को नहीं हो सकता। उसके लिये जेब भरने का दूसरा उपाय आवश्यक है।

पन्द्रह बरस तक हुकूमत करने की नौकरी करने के बाद भी

मैं छोटी-मोटी जायदाद नहीं खरीद सका। अभी तक डिप्टी ही बना हूं, कलक्टर नहीं बन सका। यह विवेक के भय के कारण मेरी आयोग्यता का काफी प्रमाण समझा जाना चाहिये। इसलिये इस युग में, जब कि एस० डी० ओ० लोग परमिट बांटने के अधिकार से कल्पवृक्ष के माली बना दिये गये हैं, 'मुझे 'पंचायत राज अफसर जिसे राष्ट्रभाषा में 'महापंच' का महिमामय नाम दिया गया है, ही बन जाना पड़ा। आशा थी कि इस नये महकमे में, जो कि ब्रिटिश शासन की गुलामी की परम्परा से अछूता समझा जाना चाहिये, जनता में आत्मनिर्णय की भावना उत्पन्न करने और रचनात्मक कार्य की स्वतन्त्रता होगी परन्तु सफेद टोपी का प्रचंड प्रताप यहां भी कम उग्र नहीं।

'तल्ली-माहिल' पट्टी में जब से पंचायत बनी, बराबर झगड़ा चला आ रहा था। पंचायत जम ही नहीं पा रही थी। विवश हो वहाँ की गांव-सभाओं की स्थिति जानने के लिए पट्टी के दौरे पर जाना ही पड़ा और 'मोरनौला' के डाक बंगले में डेरा किया। पट्टी के सभी पंचों को केन्द्र के गांव 'जाखोला' में तीसरे पहर आ जाने का संदेश भिजवा कर पट्टी के पंचायत-इन्स्पेक्टर को साथ ले मैं स्वयं स्थिति जानने के लिए तीनों गांवों में भी घूम आया।

दौरे में एहतियातन जेब में पिस्तौल रख लेना ही काफी समझता हूं परन्तु 'मोरनौला' का जंगल बहुत घना है। शिकार काफी मिलता है। अप्रैल का महीना था। अप्रैल तक शिकार की छूट रहती है। इसलिये बन्दूक भी साथ ले ली थी। अर्दली साथ था। मामले की फाइल और बन्दूक उसी के पास थी।

'पासू' में गांव सभा के लोगों से मिलने के बाद 'बांझ' के घने जंगल में से होकर 'जाखोला' की तरफ आ रहे थे। पंचायत इन्सपेक्टर ने बांझ के एक पेड़ की शाख पर बैठे खूब मोटे जंगली मुर्ग की ओर संकेत किया। अर्दली से बन्दूक ले मुर्ग को गिरा लिया। इस ख्याल से कि मुर्ग रात के खाने के समय काम आ जाय, अर्दली को मुर्ग और बन्दूक दे कर डाक बंगले लौटा दिया।

पंचायत-इंस्पेक्टर के खिलाफ बहुत से पंचों को शिकायतें

थीं। उसने भी अपनी स्त्री या बच्चे को कुछ कष्ट होने की बात कही थी। इसलिये 'जाखोला' पहुँच पंचों से बात आरम्भ करने से पहले ही इन्सपेक्टर को भी अपने गांव चले जाने की छुट्टी दे दी।

'जाखोला' में पंचों से बहुत देर बात की परन्तु प्रतिद्वन्द्वी दलों में किसी प्रकार समझौता नहीं हो पाया। ठाकुर बीरसिंह किसी तरह मानने के लिये तैयार नहीं था। उस में झगड़े और मुकदमे-बाजी की जन्मजात प्रतिभा जान पड़ती थी। मुझे अपनी बात का समर्थन करते देख उसने बात सुनने से ही इन्कार कर दिया। वह अपनी सफेद टोपी सहलाता हुआ पंचायत से उठ खड़ा हुआ और बोला—"इन्साफ की बात नहीं सुनी जाती तो जिसे जो करना है, करले! आखिर तो भगवान देखते हैं। अलमोड़ा में अदालत है। लखनऊ में मिनिस्टर हैं, इलाहाबाद में हाईकोर्ट है। हम देख लेंगे। हम 'वाकआउट' करते हैं जी!" धौंस दे वह अपने समर्थकों के साथ पंचायत से उठ, दस हाथ परे जा बैठा।

ऐसी स्थिति में गांव में अधिक ठहरना न उपयोगी था न आत्मसम्मान के अनुकूल। फाइल बेग में बन्द कर और छतरी ले उठ खड़ा हुआ। जमनसिंह के आदमी डाक बंगले तक पहुँचा आने के लिए तैयार हुए। लेकिन इन आदमियों को साथ लेकर चलने का मतलब था प्रतिद्वन्द्वी दलों में से एक के साथ आत्मीयता प्रकट करना। इसलिए उचित न जंचा।

अभी सूर्यास्त मे एक घण्टे का समय था। जमन सिंह से रास्ता पूछ लिया। उसने समझाया—पगडंडी-पगडंडी चले जाइए। सामने का टीला पार कर नाले में उतर जाइयेगा। नाले में पानी कम ही है। पत्थरों में पांव रख कर लांघ सकते है। सामने 'सौ' (चीड़ों से छायी ढलवान) है। फर्लांग भर ऊपर चढ़ जाइए। जंगलाती बटिया मिल जायगी। दक्खिन घूम जाइये। डाक बँगला मील से भी कम ही होगा।

पगडंडी से नाले पर पहुँचा तो एक चौड़ी चट्टान देख चढ़ाई चढ़ने से पहले एकान्त में बैठ कर सिगरेट पी लेने की इच्छा हुई। दिन भर की थकान से कमर सीधी कर लेने के लिए चट्टानपर

लेट ही गया। नाले के साथ साथ घिंघारू की ऊंची झाड़ियां थीं और कुंज (जंगली गुलाब) खूब फूला हुआ था। भीनी-भीनी महक आ रही थी। संध्या समय इन झाड़ियों में बसेरा लेने के लिए आये बुलबुलों के झुंड जोरों से टिरटिराते हुए इधर-उधर फुदक रहे थे, कहीं-कहीं चोंचे भी लड़ जातीं; शायद स्थान के लिए झगड़ा हो रहा था। ख्याल आया—झगड़ा सिर्फ आदमियों में ही नहीं, पक्षियों में भी होता है। नाले के पार छोटे छोटे खेत एक के ऊपर एक गांव की ओर चढ़ते चले जा रहे थे। कुछ मर्द और औरतें इन खेतों में अब भी निराई कर रहे थे।

चट्टान पर चित्त लेट कर आकाश की ओर आंखें किये सिगरेट पीने में बहुत विश्राम जान पड़ रहा था। आकाश आधा-आधा बंट रहा था। आधा खूब नीला और आधे में उजले-उजले बादल। ख्याल आया, शायद रात में पानी बरस जाय। होगा, बेफिक्री से कहा—कौन अभी बरसा जाता है। विश्राम की शान्ति अनुभव करने के लिए आंखें मूंद लीं। आंखें कुछ क्षण के लिए झूठ-मूठ मूंदी थीं परन्तु सचमुच झपकी आ गई।

मुंह पर छींटे अनुभव कर सकपका कर उठा। अंधेरा हो गया था। नयी बियाबान जगह में घबराहट से मन धक्क से रह गया। घड़ी पर आंखें गड़ा कर समय देखा। देखा, आठ बज रहे थे, लगभग दो घंटे सोया होऊंगा। अंधेरे में अनजाने रास्ते पर जाने में भय मालूम हो रहा था। एक बार जाखोला लौट कर लालटैन और आदमी साथ ले लेने का भी खयाल आया। जंगली जानवरों का खासा भय था परन्तु अफसर के लिए यह बात कुछ सम्मानजनक न लगी क्योंकि पहले साथ के लिए इन्कार कर चुका था। वे तो मुझे पहुँचा हुआ समझ रहे होंगे। यह सोच दांत दबाकर जैसे-तैसे चलने की ठानी। चल ही पड़ा।

पानी का छींटा जैसे मुझे नींद से सावधान करने के लिए ही आया था। बादल धीमे-धीमे गरजता रहा परन्तु बरस नहीं रहा था। मन ही मन सोच रहा था, यह मुझे जगाने के लिए ही था; डाक-बंगले पहुंच जाने की चेतावनी दे रहा है। भगवान कितने दयालु हैं। तुरंत उठ कर ढलवान पर चढ़ने लगा। प्रकाश कम होने

से बटिया दिखाई नहीं पड़ रही थी; परन्तु जमन सिंह ने बताया था कैसे भी ऊपर पहुँच जाने से सड़क मिल जायगी। नीचे घना, चिकना पेरूल (चीड़ की पत्ती) बिछा हुआ था। पांव फिसल-फिसल जाते थे। यथा संभव जल्दी चलने का यत्न कर रहा था। जितना भय वर्षा का था उतना ही जानवर का भी था। जंगली जानवर के मुकाबले में पिस्तौल का ही सहारा था। जेब में हाथ डाल उसे बार-बार छूने से साहस होता था।

लगभग पन्द्रह मिनिट तक चढ़ता रहा परन्तु जंगलाती सड़क नहीं मिली। मन में आशंका होने लगी अंधेरे में पगडंडी से उखड़ गया हूं। यों चलता जाऊंगा तो कब तक चलता रहूंगा? उसी समय सहसा बादल उलट से पड़े, मूसलाधार बरसने लगा। हाथ की छतरी खोल ली और एक बड़े से पेड़ के तने के साथ लग कर खड़ा हो गया। सर्दी भी मालूम होने लगी। सोचा, जाखोला लौट चलूं। पहाड़ी से नीचे घने पेड़ों के बीच से कोई-कोई रोशनी टिम-टिमाती दिखाई पड़ रही थी। सोचा, वर्षा तो थमे, देखा जायगा।

लगभग आधे घण्टे-जोर से बरसा और फिर सहसा ही थम भी गया। जाखोला लौटना सम्मानजनक न जंचा। सोचा-सरकार और उसके अफसरों की सब से बड़ी शक्ति जनता पर उनका रोब है। लोगों के सामने जाकर अंधेरे और जानवरों के भय से गिड़-गिड़ाना उचित नहीं। प्रायः चोटी तक पहुंच ही गया हूं। जंगलाती बटिया आखिर इसी तरफ से गुजरती है, तिरछा आ गया होऊंगा तो भी सौ पचास कदम के अन्तर से मिल ही जायगी। फिर तो मील भर ही है बस, रीछ या छोटा बाघ न मिले।

पेड़ के नीचे से निकल फिर चढ़ाई की तरफ कदम बढ़ाये। पेरूल भीग जाने से अब पांव नहीं फिसल रहे थे। जंगली जानवरों के सम्बन्ध में सुनी हुई बातें याद आ रहीं थीं—रीछ सामने पड़ जाय तो पिछले पांव पर खड़ा होकर हमला करता है। कभी पीछे से खोपड़ी ही नोच लेता है,। आदमी को नीचे ढलवान पर देख लेता है तो उस पर कूद पड़ता है। जंगल में घास काटने वाली स्त्रियों को बहुत परेशान करता है, नर-मादा में भेद समझता है। बहुत कामुक होता है। परन्तु यहां के लोग रीछ का सामना एक

बड़े हंसिये से ही कर लेते हैं। गुलदार, छोटा चीता अधिक भयंकर होता है। वह दुबक कर आदमी पर हमला करता है। सड़क किनारे के किसी पेड़ पर चढ़ कर मोटी शाख पर दुबका बैठा रहता है और आदमी के नीचे से निकलते समय सिर या कंधों पर कूद पड़ता है।

उपाय भी याद आ रहे थे—रीछ के सामने से बचना हो तो चढ़ाई की ओर नहीं ढलवान की ओर भागना चाहिए। रीछ ढलवान पर तेजी से नहीं भाग सकता। उनकी आंखों के सामने बाल आ जाते हैं। रीछ कांटों से बहुत डरता है, कांटों में छिप जाना चाहिए। खुद भी सोचा–कोई भी जानवर झपटे, अगर छतरी की नोक उसके खुले मुंह में ठोक कर दबा दें?…नोक एक बार गले तक पहुंच जाय और पूरी शक्ति से धंसा दी जाय तो जानवर जरूर बेबस हो जायगा। बारिश रुक चुकी थी इसलिए छतरी को लपेट कर छड़ी की तरह सुथरा बना लिया। जरा भी खटका होने पर रोंयें खड़े हो जाते थे। शिकारियों की बातें याद करता जा रहा था जो शेर, भालू को खोजते फिरते हैं। बस, साहस और औसान कायम रहना चाहिये! तभी आदमी जंगली जानवरों को बस में कर सकता है। पहाड़ी देहाती तो कुल्हाड़ी और हंसिये से शेर तक का सामना करते हैं, अपनी जेब में तो पिस्तौल है।

कुछ और ऊपर चढ़ कर सड़क मिल गई। राह भूल जाने के भय से जान बची। आशा हुई, बटिया पर कोई आता-जाता आदमी भी मिल सकता है। पहाड़ी लोग तो रात के पहर-दोपहर तक राह चलते रहते हैं। ऊपर आकर बांझ का जंगल मिला। इस कारण सड़क पर अंधेरा और भी घना था। जानवर भी, सुना है, बांझ के जंगल में ही अधिक मिलते हैं। पहाड़ी लोग जंगली जानवर का उतना भय नहीं करते जितना भूत-मसाण का। मन में सोचा, जंगली जानवर न मिले, भूत-मसाण की भली रही। परन्तु उस समय भूत और मसाण की कल्पना का भी तिरस्कार करना भला न लगा। मन ही मन सोचा, सृष्टि का क्या अन्त है? पैशाचिक शक्ति भी तो होती है। शरीर नष्ट हो जाता है तो आत्मा का क्या होता है? अतृप्त आत्मा दूसरों को क्लेषित करती हो तो आश्चर्य क्या?

आँखों को खूब सतर्क खोले तंग जंगलाती सड़क के दोनों ओर देखता जा रहा था। साहस बढ़ाने के लिये पिस्तौल को जेब से निकाल हाथ में ले लिया। भरोसा था, मौका पड़ने पर यदि पिस्तौल की गोली जानवर के माथे या सीने पर लग जाय तो रायफल के बराबर ही समझिये। चूकने को तो रायफल का निशाना भी चूक सकता है। परन्तु हथियार का भरोसा क्या? हथियार के उपयोग का अवसर मिले तब तो। ऐसे समय भगवान का ही सहारा होता है। मन ही मन कहता जा रहा था 'हे प्रभो! संकट में तुम्हीं सब के रक्षक हो।' बचपन में ऐसे समय हनुमान-चालीसा का बड़ा सहारा होता था। पढ़-लिख लेने के बाद से गायत्री मन्त्र की शक्ति पर विश्वास हो गया था। मन ही मन गायत्री का जप करता जा रहा था कि बुद्धि चैतन्य और मन स्थिर रहे। जितने कदम चल लेता, समझता, भगवान की दया से इतना निरापद गया। भय के इतने कदम कम हो गये।

सहसा धीमी गुर्राहट सुनाई दी। कदम शिथिल और रोंगटे खड़े हो गये। पिस्तौल के दस्ते पर मुट्ठी मजबूत कर हाथ साध लिया। गुर्राहट दाहिनी ओर थी। सतर्कता से देखा, दाहिनी ओर एक पेड़ के उजले तने के समीप कोई बड़ा सा काला जानवर सिमिट कर बैठा था, जैसे बड़ा कुत्ता चौकस-चौकन्ना बैठा हो। गुर्राहट और साफ सुनाई दी। रोम-रोम से पसीना बह गया। पिस्तौल उस ओर को साध ली। जानवर गुर्राना रोक पीछे की ओर सिमटता जान पड़ा, जैसे बिल्ली शिकार पर कूदने के लिए शरीर को स्प्रिंग की तरह पीछे सिकोड़ती है। क्षण तो बहुत होता है, अणु मात्र में ही सब कुछ होने को था, या तो जानवर मेरे ऊपर होता या मेरी गोली उसके शरीर में।···गोली दाग दी।

जानवर एक चिल्लाहट से उछल पड़ा। उसकी काली खाल फट कर फैल गई और आदमी की आकृति क्या, आदमी ही······कुछ बड़े परिमाण का एक आदमी उछल पड़ा और उसके सिर पर घंटियां बज उठीं।

भूत-मसान का भय लड़कपन की बात थी! तब रात के अंधेरे में अपने ही घर में, पीपल के नीचे, सभी जगह भूत की आशंका

होती थी और हनुमान चालीसा का पाठ करके भूत से बचने का उपाय भी किया करते थे। उन बातों को अब तीस बरस बीत चुके थे परन्तु इस चमत्कार के सामने तर्क भूल कर संस्कार ही प्रबल हो उठे। घुटने लड़खड़ा गये और मुख से सहसा शब्द निकल पड़े—"जय कपीश चहुँ लोक उजागर···।"

काले जानवर की खाल में से हनुमान जी की ही तरह कुलांच मार कर उछल पड़ने वाले उस जीव ने मनुष्य के स्पष्ट स्वर में ललकारा—"तेरे मसाण की मां का···।" उस गाली के साथ फिर ज़ोर से घंटियां झटकने की आवाज़ आई।

मनुष्य का स्वर और जीवन को नित्य परिचित गाली सुन कर सांस में सांस आई। मतिष्क कुछ साफ़ हुआ। घिघियाए हुए गले से पुकारा—"डाक वाला है—।" और पिस्तौल को फौरन जेब में रख लिया।

उत्तर में फिर पैदल डाक ले जाने वाले हरकारे की लाठी के घुंघरू बज उठे और फिर ललकार सुनाई दी—"भाग साले! तेरे मसाण की मां का···! खूब जानता हूं साले, साहब का रूप धर कर आया है।"

खांस कर मैंने पुकारा—"क्यों डाक वाले कम्बल लपेट कर सो गये थे? बहुत ज़ोर का खुर्राटा लेते हो!" उसका भय दूर करने के लिए जेब से माचस की डिबिया निकाल कर सींख जला कर अपने चेहरे की ओर उठाई और प्रश्न किया—"डाक बंगला कितनी दूर है?"

हरकारे ने अपना सन्देह निवारण करने के लिए एक बार और घुंघरू बजाया और आश्वासन पाकर बोला—"हां हजूर, जोर का पानी आ गया तो पेड़ के नीचे दम ले रहा था। हुजूर, बंगला यही आध मील भर होगा!······ डाक बंगला जा रहे हैं?"

"हां"—

शरीर इस पल भर के तनाव से चूर-चूर हो गया था। जेब से एक सिगरेट निकाल माचिस सुलगा कर जरा सुस्ता लेने के लिए कोई पत्थर देख रहा था। हरकारे ने अपना कंबल बिछा दिया।

उसके कम्बल पर बैठ एक सिगरेट उसकी ओर बढ़ा कर पूछा—"डर गये तुम ?……क्या सपना देख रहे थे ?"

"नहीं हुजूर, विश्वास के स्वर में हरकारे ने उत्तर दिया।" "भैन……मसाण लगता है इस सड़क पर।…बड़ा छलिया है। बड़े रूप धरता है। कभी सीटी देता है, कभी जानवर की बोली बोलता है, कभी कान के पास बन्दूक छोड़ देता है, अभी देखा हजूर ने ?"

"यह अभी जो खटका हुआ, किसी पेड़ की बड़ी डाल टूट गई होगी ?"—मैंने उसे समझाना चाहा।

"अरे नहीं हजूर, रात में डाल और कौन तोड़ेगा आकर ?"—हरकारे ने आग्रह किया—"यह सब वही करता है……।"

सिगरेट से कश लेकर मैंने पूछा—जंगल में तो जानवर भी मिलता होगा ?"

"हां हजूर, क्यों नहीं मिलता। जंगल ही ठहरा। जंगल तो जानवर का घर ठहरा। कभी रीछ, छोटा बाघ मिल ही जाता है। लेकिन हुजूर मसाण बदमाशी जादे करता है।"

पूछा—"जानवर या मसाण मिल जाता है तो क्या करते हो ?"

"कोई डर नहीं है हुजूर, यह अंग्रेज़ का घुंघरू है। जहाँ तक इसकी आवाज जाती है, भूत, मसाण, बाघ कोई नहीं ठहर सकता। हुजूर अंग्रेज का बड़ा प्रताप रहा। अब भी यह उसका घुंघरू है। हुजूर बीस बरस हुए, जब पहले पहल इधर डाक निकली तब खतरा था, अब क्या है। तब भी शाम के आठ बजे 'मगरा' से डाक लेकर, डबल-चौकी करके सुबह चार बजे 'मालकोट' में डाक देते थे। तब हुजूर एक बार यहाँ बड़ा बाघ पड़ने लगा था। अलमोड़ा जाकर रपट लिखाई। तब डाक के साहब एक बड़े भारी असली अंग्रेज थे। हुजूर, बड़े मेहरबान साहब लोग थे, उनका क्या कहना ? साहब ने हुक्म दे दिया, रात के वक्त जंगल में डर होता है। सब हरकारों के घुंघरू बढ़ा दो। हुजूर पहले भाले में चार घुंघरू मिलते थे, तब से आठ हो गये। भैन……बाघ और मसान की क्या मजाल कि सरकार के हरकारे से बोले। सरकारी डाक सर पर हो तो क्या डर ?"

सिगरेट समाप्त कर वह फिर बोला—"अब देखा हुजूर ने? साले ने पेड़ की डाल तोड़ दी। बस चलता तो उठा कर पटक देता लेकिन हम लोग ऐसा बेखबर थोड़े रहते हैं। दम लेने को लेटा था तब भी घुंघरू हाथ में था। जहाँ घुंघरू बोला, साले का पता नहीं। अभी परसों हुजूर! रात में डाक और भाला सड़क किनारे रख कर पेशाब करने बैठ गया था। मसाण भैन......ने थप्पड़ मार दिया। मैं पीछे को गिरा तो हाथ पड़ गया घुंघरू पर। मसाण साला एक दम गायब!"

सिगरेट समाप्त हो जाने पर उठ खड़ा हुआ और डाक बंगले की ओर चल पड़ा। मन ही मन भगवान को धन्यवाद दे रहा था कि भय से हाथ कांप जाने के कारण पिस्तौल का निशाना चूक गया। यदि कम्बल में लिपटे खर्राटे लेते हरकारे को गोली लग जाती तो क्या होता?

सफलता के लिए और असफलता के लिए भी धन्यवाद भगवान को ही है। परन्तु हरकारे को तो अंग्रेज के घुंघरू के सिवा किसी और पर भरोसा है नहीं। भगवान और अंग्रेज के घुंघरू में कौन बड़ा है?......विश्वास के इस झगड़े में तो विश्वास ही फैसला भी कर सकता है।"

अमर

बात का सिलसिला जोड़ने के लिये स्मृति को पच्चीस वर्ष पीछे ले जाना होगा। जान पड़ता है किसी दूसरे की बात हो, या किसी से सुनी हुई कहानी।...समय भी कितना बीत गया है। तब से तो एक एक नयी पीढ़ी चलती-फिरती नजर आने लगी है।

कालेज में पढ़ रहा था, जीवन में सफल हो सकने की तैयारी कर रहा था। कौन नहीं जानता कि समाज में आदर और आराम से जीवन बिता सकने के लिये अच्छी जगह पा लेना आसान नहीं है? जगह की कमी जान पड़ती है। दोनों कोहनियों से ठेलते हुये, जगह बना कर आगे बढ़े बिना कुछ नहीं हो सकता।

सौन्दर्य अपनी ओर खींचता था परन्तु जीवन निर्वाह की आशंका पीछे लगी थी कि जीवन में आर्थिक सफलता की ट्रेन पकड़ कर उसमें पांव जमा लेना पहले जरूरी है। चित्रकारी में लग जाने से अपना और परिवार का निर्वाह हो जाने लायक पैसा पा जाने की आशा कहां थी?...सौन्दर्य और कला शौक की चीज़ें ठहरी। पहले जिन्दगी, तब शौक। वकील बनना जरूरी था, अर्थात् दूसरे की असुविधा से लाभ उठाने की विद्या सीखना। चित्रकारी का अभ्यास न होने के कारण यत्न करने पर मेरे हाथ से सौन्दर्य के बजाय कुरूपता ही बन पड़ती थी। मन के लिये यह कितनी बड़ी ठेस थी।

अल्मोड़ा के एक सहपाठी मित्र से पहाड़ों के सौन्दर्य की बातें सुन-सुन कर एक बार दसहरे की छुट्टियों में उसी का मेहमान बन कर अल्मोड़ा आया था। अब फिर यहाँ आकर वह स्मृति

ऐसी ताजी हो गयी है जैसे कोई पुराना सुरक्षित रखा चित्र मिल गया हो।

अल्मोड़ा के अनेक स्थलों पर घूम-घूम कर वह चित्र देखे जिन्हें मनुष्य की अंगुलियां नहीं बना सकतीं, प्रकृति की विराट शक्तियां ही उनका आयोजन करती हैं। ऊपर नीलम सा नीला आकाश, सड़क के नीचे घाटियों में भरे बादलों का निस्सीम विस्तार। इन बादलों की पीठ पर तैरते काले-काले स्तूपों जैसे पहाड़ और उनके ऊपर चांदी के भग्न पिरामिडों की पंक्तियों जैसी धूप में चमकती बरफ की चोटियां!...मित्र के साथ बातचीत करते हुए घूम फिर कर यह सब दृश्य देख लेने से संतोष नहीं होता था। इसलिये जब-तब चुपचाप अकेले में इन्हें देखने निकल जाता।

अल्मोड़ा बाजार से 'पोखर खाली' और 'हीराडुंगरी' की लम्बी चढ़ाई चढ़ कर, शहर से डेढ़ एक मील पर ही 'नारायण तिवाड़ी देवाल' की बस्ती है। पहाड़ियों पर ऊपर नीचे साहब लोगों के कुछ बंगले हैं। सड़क के किनारे बाएँ हाथ आठ-दस दुकानों का सिलसिला है। दाएँ हाथ भी शुरू में ही दो एक दुकानें हैं, शेष सड़क से खुला दृश्य है।

दुकानें मैली-मैली बेरौनक हैं। गुड़ और तेल के सौदे पर मक्खियाँ और बर्रें मंडराते रहते हैं। चारों ओर चीड़ के जंगल होने के कारण ईंधन की कमी नही है। चीड़ के ईंधन के धुएं का आवरण दुकानों की दीवारों और सब सामान पर चढ़ा रहता है। दुकान की सब चीज़ों से काली टीन की एक केतली भट्टी या चूल्हे की विरहाग्नि पर सुरसुराती प्रेमी ग्राहक की प्रतीक्षा करती रहती है। ग्राहक के आने पर दुकानदार किसी भी समय पीतल के गिलासों में चाय बना देते हैं।

इन दुकानों के ऊपर ही दूसरी मंजिल में दूकानदारों के परिवार रहते हैं। दूसरी मंजिल की ऊंचाई इतनी है कि बाजार में सड़क पर खड़ा आदमी हाथ बढ़ा कर चीज लें दे सकता है। आते-जाते मुसाफिरों को खिड़कियों से पीतल के बरतन, अलगनियों पर लदे कपड़े और चारपाइयों के पांव दिखाई देते रहते हैं।

अल्मोड़ा बाजार में हर चालीस-पचास कदम पर चाय की दुकानें हैं। लेकिन लंबी, करीं चढ़ाई चढ़ 'नारायण तिवाड़ी देवाल' पहुंचने पर अगली चढ़ाई शुरु करने से पहले चाय पीने की रुचि होने लगती है। खास कर इसलिये कि चाय पीते समय सामने जंगलों का दृश्य रहता है। कई वार इधर आ चुका था।

छुट्टियों के अन्त में, अल्मोड़ा छोड़ने से पहले, एक दिन सुवह ही उस ओर गया। प्रयोजन था, उससे आगे 'कसार देवी' से दिखाई देने वाली हिमालय की वर्फानी चोटियों की दीवार का एक फोटो लेने का। 'कोडक' का बक्स-कैमरा हाथ में था। 'नारायण तिवाड़ी देवाल' पहुँच चाय के गिलास से पहली थकावट मिटाने के लिये दाएं हाथ की पहली दुकान के भीतर जा बैठा।

दुकानदार ने अनगढ़ शाखाओं के पायों पर, चीड़ के मोटे तने से वगल की बची फांक जड़ कर गाहकों के बैठने के लिये बैंच बना दी है। दुकानदार धूनी पर तपस्या करती केतली के नीचे फूंक मार कर आग को सचेत करने लगा। सांस ले पाने के लिये कुछ प्रतीक्षा कर लेने में मुझे भी आपत्ति नहीं थी।

बैंच पर बैठने से नजर चौड़े दरे के बाहर सड़क के उस पार दुकान की दूसरी मंजिल की खिड़की पर ही पड़ती थी। खिड़की का आधा निचला भाग तख्ते से पटा था। इस तख्ते के किनारे पर जांघ रखे, एक भरी जवानी लड़की या एक बच्चे की मां युवती खिड़की की चौखट में अटी बैठी थी। वह सड़क से उतरती ढलवानों के परे, कहीं दूर नजर गड़ाये थी या सुवह की ठंडक में कुछ क्षण के लिये ताजी धूप सेंक रहीं थी।

अल्मोड़ा में नागरिक श्रेणी की स्त्रियाँ घर के बाहर प्रायः नहीं दिखायी देतीं। लड़की बेखबर सी, घर के काम काज में चीड़ के धुंए से मटियाली धोती में शरीर को लपेटे थी परन्तु उसके स्वस्थ गोरे चेहरे और चौखट को थामे हाथों और बाहों पर न चीड़ के धुएं की मलीनता और न घर के भीतर मुंदे रहने की कुम्हलाहट ही थी। मानो केसर मिला दूध चू जाना चाहता हो! उसके चेहरे और शरीर पर फूटती जवानी को संभालने में उसकी मैली धोती के आंचल के तार-तार खिंच रहे थे। तख्ते पर दबी उसकी जांघ

जैसे धोती में छिपाई हुई सुडौल लंबी लौकी हो और कमर डमरू जैसी।

धुआंखे हुए मकान की खिड़की में वह चेहरा ऐसे जान पड़ रहा था जैसे सूखी काई से छाये ताल में एक कमल फूट आया हो; या जैसे उसी रोज सुबह देखा था, धूसर मटियाले बादलों के उफ़ान पर सूर्य की किरणों के स्पर्श से गुलाबीपन लिये कोई बरफ की शिला तैर आयी हो। अंतर था, कमल या बरफ की उजली शिला में सौंदर्य परखना पड़ता है, उस युवा शरीर से फूटती लहरें देखने वाले के शरीर को मथ कर प्राणों को समेटे लेती रही थीं।

हाथ समीप रखे कैमरे की ओ बढ़ गया। कैमरे को गोद में ले, सिर झुका 'व्यू फाईंडर' में देख साध लिया। एक बार खिड़की की ओर निगाह उठायी; यदि आंखें मिल सकें? आंखें मिल गयीं···जैसे नये तोड़े नारियल की सफेदी में काली पुतलियां···! हाथ ने ठीक समय पर कैमरे का ट्रिगर दबा दिया। शरीर में जैसे बिजली का तार छू गया हो···!

लड़की झमक कर ऐसे अदृश्य हो गयी जैसे खरगोश शिकारी कुत्ते को समीप देख झाड़ी में कूद जाय। वह चली गयी तो क्या? उसके रूप का प्रतिबिम्ब तो मेरे कैमरे में सदा के लिये आ गया था। संतोष का एक उच्छ्वास ले कैमरे को एक ओर रख दिया। एक अनमोल रत्न समेट पाने का गर्व था।

चाय का गिलास अभी आधा ही समाप्त कर पाया था कि सामने की दुकान से एक अधेड़ व्यक्ति ने बहुत ऊंचे स्वर में सम्बोधन किया—"यह क्या बदमाशी हो रही है? देश के गुंडों को हम सीधा कर देते हैं···"

इसकी चिल्लाहट से दो-तीन और आदमी आस्तीनें चढ़ाते हुए पास पड़ोस की दुकानों के सामने आजमा हुए। सब से पहले ललकारने वाला आदमी चिल्लाने लगा—"ऐसे बदमाश हैं कि ·र के भीतर बैठी औरतों की तस्वीरें खींचते हैं···"

उस समय सौन्दर्य की उपासना की बात कहने से पिटे बिना

नहीं बच सकता था। प्राण बचाने के लिये झूठ का ही सहारा लेना पड़ा। कैमरा उन लोगों की ओर बढ़ा कर कहा—"यहाँ किस की फोटो लेता? फोटो नहीं ले रहा था। अभी सिर्फ इसे ठीक कर रहा था। आप लोगों को संदेह है तो किसी फोटोग्राफर को दिखा कर तसल्ली कर सकते हैं।"—उन्हें बात सुनते देख यह भी कह दिया—"भैया कहो तो अभी खोल कर दिखा दूं?"

उन में से एक व्यक्ति जानकार की तरह आगे बढ़ कर बोला—"देखें!"

इस अज्ञान से हैरान हो कर समझाया—"यों क्या दिखायो देगा……? फिल्म ख़राब हो जायगी!"

अधेड़ आदमी बिगड़ उठा—"है न बदमाश? अभी कहता था, देख लो! और अब दिखाता नहीं। हम तस्वीर कभी नहीं ले जाने देंगे।'

लिए हुए चित्र और फिल्म का मोह न कर पिटने से बचने के लिए कैमरा खोल कर वह फिल्म उन लोगों के हाथ में दे दी। फिल्म रोशनी में खोल दी जाने से काले-धुंधले शीशे की सपाट पटिया जैसी दिखायी देने लगी। उन्हें मेरी बात पर विश्वास हो गया।

वह फिल्म वहीं सड़क पर खेलते एक बच्चे को थमा कर उतराई पर ठोकरें खाता अल्मोड़ा की ओर लौट आया, जैसे सफलता के स्थान से धकेल दिया गया व्यक्ति लौटता है। अपने मेहमान मित्र से उस घटना की कोई चर्चा करना उपयुक्त नहीं समझा।

हाथ में आया अनमोल रत्न छिन जाने की याद लिये इलाहाबाद लौटा। बहुत दिनों तक मन पर उस घटना की चोट रही;… यह उस सुन्दरी का गर्व था या सतीत्व की धारणा?…या उसने अपने आकर्षण के प्रभाव में अपना अपमान समझा?

बीच के इतने वर्षों की लम्बी बात से क्या फायदा? भविष्य को सुखमय बनाने के लिये सब सुख और विश्राम त्याग कर कठिन परिश्रम से जीवन को इतना दुखमय बना लिया कि जीवित

रह सकने में भी संदेह होने लगा। डाक्टरों ने स्वास्थ्य सुधारने के लिए सब परिश्रम छोड़ कर विश्राम करने और जंगलों और पहाड़ों की स्वच्छ जलवायु में जाकर जीवन की शक्ति को कुछ सहायता देने का परामर्श दिया।

मैं फिर अल्मोड़ा में आकर रहने के लिये ही विवश हो गया। ऐसी अवस्था में आकर अल्मोड़ा के उस भाग में शरण ली है जो शहर से दूर, 'नारायण तिवाड़ी देवाल' के आगे चीड़ों और देवदारों की छाया में अलग-अलग, छोटे-छोटे मकानों के रूप में बसा है, जहाँ रोगी लोग स्वस्थ हो जाने की आशा में लेटे रहते हैं।

जीवन में सुख की खोज के लिये कठोर परिश्रम के परिणाम में दुःसाध्य रोग का दुःख पाकर यह समझ लेना आसान था कि सुख की इच्छा और खोज केवल भ्रम है। संसार में जन्म पा लेने से ही दुःख का यथेष्ट भोग भाग्य में आ जाता है। दुःख और दुःखों की मूल तृष्णा को बढ़ाने से अधिक मूर्खता और क्या होगी? इस परिणाम पर पहुँच कर अल्मोड़ा में आ बैठा हूँ परन्तु......

परन्तु देखता हूँ कि प्रकृति जैसे पच्चीस वर्ष पूर्व छटा दिखाकर मोहित करती थी वैसे ही आज भी कर रही है। आज भी नीचे घाटी में भरे बादलों के अछोर सागर पर नीली-काली पहाड़ियाँ सिर पर चाँदी की पिछौरे (चादरें) ओढ़े तैरती दिखायी देती हैं और इन पहाड़ियों को काले कपड़े पहने उज्ज्वलमुखी युवतियों के रूप में देखा जा सकता है। यह दिखाई तो जरूर देता है परन्तु इस आत्मप्रवंचना से लाभ?

और, यदि सचमुख ही उज्ज्वलमुखी युवती काले कपड़े पहन कर सामने बैठ मुस्कराती रहे, तो भी क्या? इस से अनुभव होने वाले रोमांच की अनुभूति कितनी देर तक रहेगी? उस में सार क्या? जल्दी ही उसका अन्त नहीं हो जायगा? उस सुन्दरी को सराहने वाले भोगी का शरीर, बुढ़ापे से जर्जर हो कर, छप्पर के सड़े हुए फूस की तरह विरूप और नष्ट नहीं हो जायेगा? शरीर और शरीर की अनुभूतियाँ, दोनों का ही अन्त निश्चित है। बेसुधी में सुखी हो कर अपने आपको ठगने से लाभ?

अब मैं बहुत अधिक नहीं चल पाता हूँ, न मुझे चलना ही चाहिये। इसलिये जब मकान से बाहर निकलता हूँ तो अल्मोड़ा तक न जा कर 'नारायण तिवाड़ी देवाल' या उसके समीप बने 'हैलेट टैंक' तक ही जाकर लौट आता हूँ। पिछले पचीस बरस में 'नारायण तिवाड़ी देवाल' के अलमोड़ा वाले छोर पर घने पांगरों की छांव में कुछ और दुकानें बन गयी हैं। चहल-पहल बढ़ गयी है। चाय की वह दुकान अब नये सिरे से बन गयी है और बूढ़े की जगह एक नौजवान उस पर बैठने लगा है। इसके सामने की दुकान की दूसरी मंजिल पर बनी खिड़की को कैसे न पहचानता?...यह लोग मुझे नहीं पहचानते, यह अच्छा ही है।

अपनी उस मूर्खता को अच्छी तरह समझ लेने के लिये मैं फिर उसी दुकान पर, उसी जगह बैठ कर कई बार चाय पी चुका हूं और उस खिड़की की ओर भी देखा है। खेलते और रोते हुये बच्चे उस खिड़की से दिखाई देते हैं। एक शिथिल शरीर बुढ़िया को भी देखता हूं जो अपने शरीर की चिन्ता नहीं करती। उसकी कनपटियों से ओठों तक पड़ गयी झुरियों ने उसके गालों में गढ़े डाल कर चेहरे को ऊंची नाक के दोनों ओर खींच लिया है। कभी वह किसी काम से थकी सी नीचे दुकान के दरे की दहलीज पर ही आ बैठती है। मेरा विश्वास है कि यह वही है, एक दिन जिसकी छवि की स्मृति साथ ले जाने के लिये मैंने मार खाने की आशंका सिर ली थी। आज यह चौंक कर अपने आप को नहीं छिपाती। कोई देखना चाहे तब तो वह छिपाने की भी बात सोचे! इसका वह आकर्षण सचमुच भ्रम ही तो था।

'नारायण तिवाड़ी देवाल' से लौट कर मन सौंदर्य के आकर्षण और सुख के पीछे भागने की निस्सारता समझ पाने के बोझ से बहुत निरुत्साह हो रहा था। पलंग पर लेट गया। सदा शुद्ध वायु की पहुँच में रहने के लिये खिड़की के सामने लेटता हूं और नज़र खिड़की से बाहर स्वेच्छा से उगी 'कोसमोस' 'ब्लेड्स' और कई सफेद फूलों की झाड़ियों और उन पर लिपट गयी 'मार्निंग ग्लोरी' के नीले फूलों की बेलों पर पड़ती रहती है। इनके आगे दिखाई देती है नीचे उतरती हुई घाटी के पार दूर नीली काली पहाड़ियों

की एक के आगे दूसरी फैलती जाती रेखायें और उनके ऊपर से झांकती बर्फानी चोटियां।

फूलों की इन झाड़ियों पर तितलियां उजलत और बेसुधी में उसी प्रकार मंडरा रही हैं जैसे मेले के दिनों में हरिद्वार के स्टेशन पर रंग-बिरंगी भीड़ गाड़ी में जगह पाने के लिये बेचैन होती है।

पच्चीस बरस पहले भी ऐसी ही तितलियों को फूलों पर ऐसे ही मंडराते देखा था और तब भी हिमालय की उन चोटियों पर वह बरफ नीले आकाश को भेद कर अभिमान से ऐसे ही सिर उठाये थी। यह क्या वे ही फूल हैं?···वही तितलियां हैं···और क्या वही बरफ है?······फूल और तितली का जीवन कितने दिन का?···सूर्य की किरणों के स्पर्श से विह्वल हो कर बह जाने वाली बरफ की स्थिरता कितने समय की? फूल तितलियाँ और बरफ अपने-अपने सौंदर्य का प्रयोजन पूरा करके चले जाते हैं।···चले कहां जाते हैं? वे तो कहीं चले नहीं गये। सामने मौजूद हैं···वे तो अमर हैं। इस सृष्टि और संसार को क्षण भंगुर बताने वाले मनुष्य व्यक्ति की तुलना में तो वे अनादि और अनंत हैं; उनका सौन्दर्य अमर है। मनुष्य ने उनकी परम्परा का अभाव कब देखा है? वाल्मीकि और कालिदास के समय में भी यह सौन्दर्य ऐसा ही था और आज भी है।

और, समीप के सोते से बहने वाली नाली का यह कल-कल शब्द क्या कहता है? कितने सौ वर्षों से यह नाली बह रही है? इस नाली या किसी भी नदी में बहने वाले जल के कणों में कितनी स्थिरता और अमरता है? इन कणों का प्रवाह ही तो अमर है, कोई कण अमर नहीं। यदि जल के कण ठहर कर अपनी अस्थिरता और क्षण-भंगुरता की बात सोचने लगें?

जल के इस प्रवाह में जल के प्रत्येक कण का अपने आगे और पीछे के कणों से सम्बन्ध ही उस कण का जन्म और मृत्यु है। जल के कणों का अपने आगे और पीछे के कणों से यह सम्बन्ध ही प्रवाह में उसके स्थान को निश्चित किये है। वैसे ही क्या मनुष्य व्यक्ति की भी स्थिति नहीं?······मनुष्य समाज के प्रवाह

में वह कौन कातर और मूर्ख था जिसने मनुष्यों के प्रवाह की अमरता के विषय में शंका पैदा कर 'मनुष्य व्यक्ति' को कातर और अनुत्साही बना दिया ? 'मनुष्य' को यों ठगने का प्रयोजन क्या है? उसे जीवन के उत्साह से विमुख करने का प्रयोजन क्या है?……बेचैनी के कारण लेटा न रह सका। उठ कर पलंग से पांव लटकाये बैठ गया।

इस मकान में आ कर ठहरने के समय, मुझ से पहले रह जाने वाले रोगी के रोग से बचे हुए कीटाणुओं को समाप्त कर देने के लिये नये सिरे से चूना-कलई करवा ली थी। कमरे के दायीं ओर की दीवार में अंगीठी के ऊपर एक तसवीर, किसी अंग्रेज़ी पत्रिका से फाड़ी हुई, बिना फ्रेम और कांच के ही महीन कीलों से दीवार में जड़ी हुई है। मकान में कलई करवाते समय इस तसवीर को उतार कर फेंक देना स्वाभाविक था परन्तु…तसवीर में चाय के बगीचे की झाड़ियों से पत्ती चुनती उस युवती ने झाड़ी से आंख उठा, मुस्कुरा कर मेरी ओर देखा। मैं रोग और कीटाणुओं के भय को भूल गया।

उस तसवीर को वहीं रहने दिया। इस चित्र में इतना सामर्थ्य है। कि इस चित्र के रहने से कमरे में अकेलेपन का भय अनुभव नहीं होता। अब फिर उसी चित्र की ओर देख रहा हूं। वह युवती सोने से जीवन के उत्साह का उच्छ्वास भर मुस्कराती आंखों और स्पन्दित ओठों से एक ही बात कह रही है……"जियो" !

मैंने कभी नहीं सोचा यह तसवीर कितनी पुरानी है? यह युवती कहां है ? हो सकता है, दार्जीलिंग के किसी चाय के बगीचे में अभी पत्ती तोड़ रही हो। हो सकता है, उसके यौवन और रूप ने मानवता के प्रवाह में अपने स्थान पर प्रवाह को अमर बनाये रखने का काम पूर्ण शक्ति से पूरा कर दिया हो। यह भी हो सकता है कि आज उस के गालों का मांस झुर्रियों के रूप मे नाक के दोनों ओर सिमट आया हो ! परन्तु उसका सौन्दर्य अमर हो कर मुझ से पहले इस मकान में टिके रोगी को और आज मुझे; और जाने

संसार के किस-किस भाग में कहां-कहां उत्साह और जीवन की प्रेरणा देता रहा है और दे रहा है। वह आज भी धूप में चमकने वाली हिमालय की चोटी की तरह अमर है......!

और यदि उस दिन खिड़की की चौखट में अटे उस रूप और यौवन का चित्र ले पाता तो आज उस विरूप हो गये शरीर की कितनी बड़ी देन 'मनुष्य' के लिये रह जाती? मनुष्य के सामर्थ्य और उसके सौन्दर्य की अमरता के प्रति संदेह पैदा कर उसे निरुत्साहित करने वालों को, उसे ठगने वालों को कब तक क्षमा किया जाता रहेगा?

५

चन्दन महाशय

चन्दन महाशय के लिये 'महाशय' उपाधि ही निश्चित हुई क्योंकि लोग-बाग उन्हें कोई दूसरी उपाधि देने के लिये तैयार नहीं थे। पंडित, बाबू, लाला, ठाकुर, मुशी, ये सभी उपाधियां अलग-अलग जातियों की अपनी-अपनी बपौती हैं। किसी भी जाति के लोग अपनी जाति की बपौती उपाधि चन्दनलाल को न देना चाहते थे; अर्थात किसी भी जाति वाले चन्दनलाल को अपनी जाति में मिला लेने को तैयार नहीं थे। कारण यह कि चन्दनलाल 'ओछी' जाति के समझे जाते थे।

चन्दनलाल के व्यक्तित्व की ऐसी उपेक्षा कर देना भी संभव नहीं था कि उन्हें चन्दू, चन्दवा या चन्दना कह कर ही पुकारने से काम चल जाता। उनकी लहीम शहीम मूर्ति, निर्भय मुद्रा और बात करने का अधिकार पूर्ण ढंग ऐसा था कि एक बार मुलाकात हो जाने पर दुबारा परिचय की आवश्यकता नहीं थी। यदि किसी अहम्मन्य व्यक्ति को ऐसी आवश्यकता अनुभव होती तो चन्दनलाल की गालियों में अनुपम मौलिकता उनकी स्मृति को स्थायित्व दे देती। चौड़े भरपूर कंधों से हाथी की सूंड़ों की तरह लटकती उनकी लम्बी भुजाओं के सिरे पर बड़े-बड़े हाथ अपनी शक्ति का प्रभाव दिखाने के लिये खुजाते रहते। अभिमानी व्यक्ति की ओर गरदन झुका कर देखने का उन का ढंग ऐसा था जैसे मुर्गियों के गिरोह में कलगीदार मुर्गा धूल में रेंगते किसी कीड़े की ओर देखता है। उनकी आखों में छाई लाली अपने क्रोध को कभी भी तृप्ति से प्रकट करने का अवसर न पा सकने के कारण कभी घट न पाती। इस लाली को बढ़ाने के जितने भी भौतिक उप-

करण हो सकते हैं, उनका प्रयोग चन्दन महाशय पूर्ण विज्ञापन के साथ करते थे। सब से महत्वपूर्ण बात थी, चन्दन महाशय का कभी किसी के आगे हाथ न फैलाना। उलटे यदि कोई मदद के लिये गिड़गिड़ाता, तो वे दस-पांच रुपए से मदद के लिये तैयार रहते। अपनी इज्जत की रक्षा के लिये उनकी इज्जत करना जरूरी था।

कुछ लोगों ने चन्दन महाशय को पहलवान पुकार कर उनके लिये उपाधि की समस्या निबटा देनी चाही थी परन्तु इस विषय में उनकी आपत्ति का उग्र रूप देखकर फिर किसी को ऐसा साहस न हुआ। पहलवान कहलाने में महाशय चन्दनलाल को आपत्ति थी कि यह उनकी "विद्वत्ता" और "गहरी राजनैतिक सूझ" पर परदा डालने के लिये उनके शरीर की विशालता के प्रति विद्रूपमय लक्ष्य था। चन्दन महाशय अंग्रेजी पढ़े, सफेद-नोकीली टोपी और कुर्ता-धोती पहनने वालों की इस चाल को भांप गये। चन्दन महाशय को पहलवान बना देने का मतलब था उन से बुद्धि की बात कहने और राजनैतिक नेतृत्व का अधिकार छीन कर अपनी लीडरी जमा लेना। स्वयं राजनैतिक लीडर बन जाने की इच्छा करने वालों का यह कमीनापन वे स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे। फलतः हिन्दू जाति के महापुरुषों की साँझी उपाधि 'महाशय' से ही उनका नाम विभूषित किया गया।

चन्दन महाशय आमूल क्रांति के उपासक थे। वे नगर के राजनैतिक गुरु और पथप्रदर्शक होने का दावा करते थे। उनके विचार में उनकी गिनती देश और प्रान्त के प्रमुख नेताओं में ही होनी चाहिये थी क्योंकि वे कांग्रेस के सबसे पहिले आन्दोलन के समय से जेल जाते आये थे। जनता उनकी बात को देश के प्रमुख नेताओं के समान महत्व नहीं दे पाती थी, इसका कारण चन्दन महाशय की दृष्टि में, जनता का भोलापन और नगर के राजनैतिक नेता बन बैठने वाले सरमायादार लीडरों की संकीर्णता और कुचक्र ही था। अंग्रेज सरकार के राज को उलट देने के उग्र कार्यक्रम पेश करने में कोई नेता उनकी बराबरी नहीं कर सका और न कोई नेता उनकी बराबरी में बहत्तर घंटे तक अपने पक्ष के समर्थन में बहस करने की क्षमता रखता था।

सन् १९२१ में वे उसी राजनैतिक अपराध के लिये जेल गए थे जिस अपराध में पंडित मोतीलाल, जवाहरलाल और अली भाई जेल में बन्द किए गए थे। इन नेताओं के समान ही राजनैतिक अपराध करने पर भी जेल में चन्दन महाशय के साथ अपमानपूर्ण व्यवहार किया गया और इन नेताओं के साथ सम्मानपूर्ण। उस समय के कायदे-कानून के अनुसार चन्दन महाशय को जेल का गोल गले का धारीदार कुर्ता और जांघिया पहिनने और गले में कैदी के नम्बर की तख्ती लटकाने के लिए मजबूर किया गया। उन्हें हाथों पर से बिखरती रेतीली रोटी और लोहे के तसले में लेकर काली दाल खाने के लिए विवश किया गया और उन्होंने देखा कि नेताओं के लिये फलों और मिठाइयों के झावे जा रहे थे। जेल के अधिकारी नेताओं से इस तकल्लुफ से बातचीत करते थे जैसे अपनी बेटी का सम्बन्ध जोड़ने की बात कर रहे हों। यह भेदभाव और अन्याय देखकर चन्दन महाशय को नेताओं और अँग्रेज़ सरकार दोनों पर ही क्रोध आया। नेताओं के प्रति इसलिए कि जो दुश्मन के तकल्लुफ को स्वीकार करता है, वह उससे लड़ेगा क्या? और पक्षपात करने वाली अंग्रेज सरकार के विरुद्ध इसलिए कि अंग्रेज सरकार अपनी बिरादरी के काले रईसों को देश की जनता से फोड़कर अपना साथी बनाए रखने के लिये फुसला रही है।

जेल के अनुशासन को मानना चन्दन महाशय शत्रु के आगे सिर झुकाना समझते थे। जेल का अनुशासन न मानने से उन्हें कालकोठरी में बन्द होने की सजा मिलती थी। काल-कोठरी के एकांत में बन्द रह कर चन्दन महाशय ने मनन किया और अपनी राजनीति निश्चय कर ली। इस राजनीति का तत्व यह था कि अंग्रेज बंगलों में रहने के लिए, मजे से गोश्त और शराब उड़ाने के लिये गरीब हिन्दुस्तान पर राज करता है। गोरा अमीर राजा और काला अमीर उसका मुसाहब! गुलाम है गरीब! और झगड़ा है अमीर और गरीब का! गोरा अमीर अपना राज चलाने के लिये काले गरीब को अपना नौकर बनाये रखने के लिये अपना राज चलाता है। दुनिया में इंसाफ और आज़ादी तभी कायम हो सकती है जब अमीर-गरीब का भेद न रहे!

जेल में यातना पाकर छूटने के बाद जब चन्दन महाशय ने कांग्रेस के बड़े-बड़े नेताओं को अंग्रेज लाट और गवर्नरों की कौंसिलों का मेम्बर बन जाने के लिये तैयार होते देखा तो उन्हें अपनी राजनैतिक सूझ के विषय में कोई सन्देह नहीं रह गया। उन्होंने देश की आजादी के लिये किसान-मजदूर के राज का प्रचार शुरू कर दिया। उन्होंने ऐलान करना शुरू कर दिया कि अमीर और गरीब में, भेड़िए और बकरी में कोई दोस्ती नहीं हो सकती। कांग्रेस के जिम्मेवार और सम्मानित नेता उन्हें बहका हुआ व्यक्ति बता कर उनकी उपेक्षा करने लगे। काँग्रेस के नेताओं से यह अपमान पाकर चन्दन महाशय कांग्रेस को अपना और अपनी जैसी जनता का शत्रु मान कर कांग्रेस के विरुद्ध प्रचार करने लगे कि साम्राज्यवादी अंग्रेज की काली बिरादरी के ये लोग जनता की स्वतंत्रता नहीं अपना ही स्वार्थ पूरा करना चाहते हैं। काली और गोरी सरमायादारी बिरादरी का राज मेहनत करने वाली जनता को विवश बनाए रखने के लिये है। सरमायादारों के मंदिर, मस्जिद, गिरजा, सरमायादारों के ब्याह, शादी और परिवार के नियम और उनकी अदालत सब कुछ हाथ-पैर से मेहनत करने वालों को बेबस बनाए रखने के लिए हैं। चोरी न करने और झूठ न बोलने के उपदेश सरमायादारों के आराम पर आंच न आने देने के लिये हैं। सरमायादारों का राज मिटाने के लिये उनकी हुकूमत के सब फंदों को तोड़ देना जरूरी है। सरमायादारों के राज की, उनके मजहब की, उनके रिवाज की सब बातें जुल्म हैं। इनमें से किसी को भी मानना गुलामी को मंजूर करना है।

चन्दन महाशय को दृढ़ विश्वास हो चुका था कि पूंजीवादी व्यवस्था में धन कमाने का साधन ईमानदारी से मेहनत करना नहीं बल्कि गरीबों की जेब से पैसा खींच लेने की चतुरता है। ईमानदारी और मेहनत सिर्फ गुलाम और गरीब के लिये है। इस राज में जो ईमानदारी से मेहनत करेगा, गुलाम और गरीब रहेगा, जो चालबाजी से मुनाफा कमायेगा, अमीर होगा। गरीबों की मेहनत से मुनाफा कमाना सब बेईमानी की जड़ है यही मतलब पूरा करने के लिये गरीबों पर सरमायादारी की हुकूमत कायम की

जाती है। मुनाफा कमाने के लिये घी में कचालू और चरवी मिलाई जाती है। सरकारी काम में पब्लिक का पैसा हड़पने के लिये सरकार के अहलकारों को रिश्वत दी जाती है। जेल में रह कर चन्दन महाशय देख आए थे कि सजा अपराध करने के कारण नहीं मिलती बल्कि जेब में काफी रकम न होने से वकील, पुलिस और सरकार को खुश न कर सकने के कारण मिलती है। जैसे गरीब आदमी पंडे को गोदान न कर सकने के कारण पापी बन कर नरक में जाता है वैसे ही गरीब आदमी जेब में पैसा न होने पर पेट भरने और जिन्दगी का मजा चखने की कोशिश करने से जेल चला जाता है। पूंजीवादी सरकार और उसकी व्यवस्था के किसी भी नियम को मानना उन्हें अपने आत्मसम्मान और राजनैतिक-धर्म के विरुद्ध जान पड़ने लगा और ईमानदारी से मेहनत करना गुलामी को स्वीकार करना।

चन्दन महाशय ने अपनी राजनीति को वैयक्तिक जीवन में अपनाने का निश्चय कर लिया। उन्हों ने ईमादारी से मेहनत न करने की और पूंजीवादी शोषण और गुलामी में न फंसने की प्रतिज्ञा कर ली। अपने निर्वाह के लिये ईमानदारी से मेहनत न करके पूंजीवादी व्यवस्था को ठगने का निश्चय किया। इस प्रयोजन से उन्हों ने एक रसायनशाला आरंभ की जिसमें सब से पहिले 'हाजमे की जायकेदार गोलियां' बनाई गईं। जिस समय ये गोलियां बाजार में आईं, इनका रहस्य किसी को मालूम नहीं था। बाद में चन्दन महाशय ने पूंजीवादी व्यवस्था के प्रपंच की पोल खोलने के लिए अपने इस चमत्कार का वर्णन स्वयं ही सार्वजनिक रूप से करना आरम्भ कर दिया। 'हाजमे की जायकेदार गोलियों' के आविष्कार की कहानी यह है—

१६२१ में, जेल में "राजनैतिक चिन्तन" कर के जब चन्दन महाशय रिहा हुए तो वे यह समझ चुके थे कि किसी भी प्रकार का शारीरिक परिश्रम करने से वे समाज में सम्मानित नेता का आदर नहीं पा सकते। समाज में सम्मानित होने के लिए दोनों बातें आवश्यक हैं: पैसा भी हो और आदमी शारीरिक मेहनत भी न करे। उनके संकट की गुरुता का अनुमान इस बात से लगाया

जा सकता है कि जेल से रिहा होते समय उनके पास कुल जमा पूंजी तीन रुपए ही थी। इतनी पंजी को ले उन्हों ने पूंजीवादी व्यवस्था को धोखा देकर अपना निर्वाह करने के लिए कारोबार की खोज आरम्भ की :—

चन्दन महाशय को शहर की किराना मंडी में एक बनिए की दुकान के सामने लाल मिर्च के बीजों की छोटी ढेरी दिखाई दी। मिर्चें बिक जाने पर चौतरे की सफाई के लिए झाड़ू लगा कर बीजों को बटोर दिया गया था। चन्दन महाशय ने बनिये से इन गिरे हुए बीजों की ढेरी का सौदा किया। दो आने में यह कूड़ा खरीद अपने अंगौछा में बांध वे सब्जी मंडी की ओर चले।

एक कुंजड़े की दुकान के आगे फटे, सूखे और सड़े नीबुओं की डलिया उन्हें दिखाई दी। इन नींबुओं का थोक सौदा अठन्नी में हुआ और उन्हों ने माल अंगोछे के दूसरे सिरे में बांध लिया। रास्ते में तीन चीजें उन्हों ने और खरीदीं :—चार आने का सेंधा नमक, दो आने का काला नमक और चार आने की हींग।

अपनी कोठरी में लौट चन्दन महाशय नाक और मुंह अंगोछे से बांध मिर्चों के बीज कूटने के लिए बैठे। आपत्ति उन्हें परीश्रम करने में नहीं, परीश्रम करते देखे जाने में ही थी। बीजों के यथा-संभव बारीक कुट जाने पर उस में दोनों नमक और हींग मिला दी गई और इस चूरन को सड़े नींबुओं के रस में गूंध कर गोलिओं बना ली गई। बाजार से बादामी कागज खरीद छोटे-छोटे लिफ़ाफे बना उसमें बीस-बीस गोलियां रख चन्दन महाशय ने इन गोलियों की थोक और फुटकर बिक्री आरंभ की। इन चमत्कार-पूर्ण गोलियों को कलकत्ते के प्रसिद्ध 'सर्वदानन्द औषधालय' का आविष्कार बताया गया। गोलियां को बेचने में चन्दन महाशय को लगभग एक मास लगा। इस एक मास में इन गोलियों की बिक्री से दो वक्त भरपेट खाने के साथ दूध-दही और पाचक पेय का यथेष्ट व्यवहार करने के बाद भी चन्दन महाशय के पास तीस रुपये की पूंजी शेष रह गई। दवा के नाम पर यह ज़हर बेचने से चन्दन महाशय को कोई क्षोभ नहीं हुआ ; क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि बदहजमी उन्हीं लोगों को होती है जो श्रम न करके

आवश्यकता से अधिक भोजन करते हैं। हराम का खाने वालों को अपनी इस गोली से धोखा देकर अपना निर्वाह आराम से चलने में उन्हें कोई अन्याय नहीं जान पड़ा।

अधिक रुपया पाने के लिये चन्दन महाशय को गहरी जेबों में हाथ डाल सकने का उपाय सोचना पड़ा। पूंजीवादी अव्यवस्था का यह रहस्य वे समझ चुके थे कि पैसे वाले लोग अपनी जरूरी आवश्यकतायें पूरी करने और कष्ट से बचने के लिये उतना पैसा खर्च नहीं करते जितना कि व्यसन में और अपना बड़प्पन दिखाने में। गहरी जेब वालों की जेब से यथेष्ट पैसा निकाल सकने के लिये चन्दन महाशय ने 'पलंगतोड़ गोलियों' का आविष्कार किया। उन्हों ने तंबोलियों को अपने षड़यंत्र में सहयोगी या दलाल बना कर इन गोलियों की गुपचुप बिक्री आरम्भ की। जब इन गोलियों की बिक्री से रुपये छनकते हुए आने लगे तब उन्हें और भी अधिक विश्वास हो गया कि पूंजीवादी व्यवस्था की नींव अनाचार और धोखे पर ही है।

पूंजी जमा हो सकने की प्रक्रिया यह है कि खर्च आय से कम हो। परन्तु चन्दन महाशय अपने खर्च पर संयम का प्रतिबन्ध लगाने के लिये तैयार नहीं थे। पूंजीपति श्रेणी के प्रति उनकी विरोध की भावना का एक रूप था, रुपये से सम्भव सभी भोगों को सार्वजनिक रूप से भोग कर दिखा देना। ज्यों-ज्यों रुपया उन के हाथ में आता गया उनके भोग की मात्रा और उससे अधिक भोग का प्रदर्शन बढ़ते गया।

रुपये की उच्छृंखलता के जोर से पूंजीवादी नैतिकता की धारणाओं का सार्वजनिक तिरस्कार करने में चन्दन महाशय को बहुत संतोष होता था। इस उद्देश्य से वे शराब और भांग का व्यवहार सार्वजनिक रूप से करते थे। कमर में केवल लाल अंगोछा लपेटे बाजार में घूम कर सूट-बूट पहिने हुए बाबुओं या सफेद कुर्त्ता-धोती पहिने रईसों से उलझ कर उनकी हेठी करने में उन्हें मानसिक सुख अनुभव होता। बिना वस्त्र पहिने उनके बाजार में घूमने पर यदि भले आदमियों को एतराज होता तो इस एतराज की

अवहेलना करने के लिये वे और भी अधिक नग्न रूप से बाजार में दिखाई देते और बाजार में व्याख्यान दे डालते—"ऐ, गरीबों की मेहनत के चोर अमीरो, तुम अपने कपड़ों के जोर पर आदर चाहते हो? कपड़ों का आदर पूंजी का आदर है। तुम्हारे शरीर में आदर की कोई बात नहीं। तुम्हारा शरीर हमारे जैसा ही है! तुम कपड़े दिखा कर आदर चाहते हो! हमारे पास कपड़े न सही पर हमारी आजादी में दखल देने का हक किसी को नहीं। जिसे बुरा लगता हो वह अपनी आँखें मूंद लें।" वे अपने मित्रों में कहते—"कोई अपनी मोटर और शाल-दुशाले दिखा कर लोगों को भौंचक करता है कोई अपना नंगापन दिखा कर! जैसे महात्मा लोग। हम किस से कम हैं!"

कांग्रेस से नाराजगी होने पर भी अंग्रेज सरकार के प्रति अपने विरोध के कारण चन्दन महाशय को प्रत्येक आन्दोलन में जेल जाना पड़ता था और जेल से वे और अधिक कांग्रेस-विरोधी होकर लौटते। कोई भी राजनैतिक सभा होने पर उसमें व्याख्यान देना वे इसलिए अपना अधिकार समझते थे कि वे नगर के सफेद-पोश और मोटरसवार नेताओं से पीछे क्यों रहें? पूंजीपति नेताओं को उनका पद और सम्मान छीन लेने का क्या अधिकार है? कांग्रेस को वे जनता और किसान-मजदूर की चीज समझते थे और कांग्रेस पर अधिकार जमा लेने वाले नेताओं को धोखेबाज पूंजीपति और अपना व्यक्तिगत प्रतिद्वंदी।

नगर में कम्युनिस्ट लोगों का आंदोलन आरम्भ हुआ। यह पार्टी किसान-मजदूर-राज्य का नारा लगाती थी और सफेद-पोश मोटर-सवार नेताओं के नेतृत्व को स्वीकार नहीं करती थी। यह पार्टी देश की स्वतंत्रता केवल गोरी सरकार को हटा देने में नहीं बल्कि देश से सरमायादारी समाप्त कर देने में समझती थी। चन्दन महाशय को सन्तोष हुआ कि आखिर लोगों को उनका "राजनैतिक दृष्टिकोण" मानना पड़ा, उनका "राजनैतिक ज्ञान" सत्य प्रमाणित हुआ। कम्युनिस्ट पार्टी को अपना अनुयायी समझ चन्दन महाशय को इस पार्टी से सहानुभूति हो गई। वे कांग्रेस के नेताओं की तुलना में कम्युनिस्टों की प्रशंसा करने लगे

और कम्युनिस्ट पार्टी के पर्चों और पुस्तकों को पढ़े बिना उनका समर्थन करने लगे।

कामरेड लोगों ने चन्दन महाशय को भटका हुआ राजनैतिक-पीड़ित मान कर उनके प्रति सहानुभूति प्रकट की। उनकी दृष्टि में चन्दन महाशय सरमायादारों की सार्वजनिक सम्मान की ठेकेदारी का विरोध कर रहे थे। चन्दन महाशय की सार्वजनिक सम्मान पाने की इच्छा में कामरेडों को कोई अनाचार नहीं दिखाई दिया। कामरेड लोग कांग्रेस पर पूंजीपतियों की ठेकेदारी के विरुद्ध चन्दन महाशय की पीठ ठोंकने लगे।

चन्दन महाशय की उच्छृंखलता से आतंकित 'भले मानुस' लोगों ने चन्दन महाशय और कामरेड लोगों में सहानभूति का प्रदर्शन देख चन्दन महाशय को "कामरेड" की उपाधि दे दी। चन्दन महाशय को "कामरेड" की उपाधि देने का प्रयोजन दोहरा था। एक तो चन्दन महाशय की जगजानी उच्छृंखलता को कम्युनिज्म का चित्र बता देने से, भलमनसाहत का आदर करने वाले लोगों में कम्युनिज्म के प्रति अश्रद्धा हो जाय और दूसरा यह कि चन्दन महाशय को "कामरेड चन्दन" घोषित करके उनका कांग्रेस के नेतृत्व का दावा रद्द कर दिया जाय। अपने आपको अत्यंत चतुर समझने वाले चन्दन महाशय पूंजीवादी भलमनसाहत की रक्षा के लिए पैंतरा खेलने वाले लोगों के इस जाल में फंस गए और अपने आपको स्वयं ही "कामरेड" पुकारने लगे।

चन्दन महाशय को कामरेड की उपाधि दे दी जाने पर कम्युनिस्टों को 'कामरेड चन्दन' के व्यवहार के प्रति चिन्ता होने लगी। कोई न कोई कामरेड किसी न किसी बात पर उनसे उलझने लगा। सब से पहिला आदेश कामरेड चन्दन को यह दिया गया कि वे कम्युनिज्म के संबंध में मार्क्स की पुस्तकें पढ़ें। यह मानसिक दासता "कामरेड चंदन" को वैसे ही जान पड़ी जैसे पूंजीवादी नैतिक धारणाओं के सामने सिर झुका देना था। उन्हों ने विरोध किया:—"कम्युनिज्म तो इन्सान की आजादी है। उसके लिए किसी की किताब पढ़ने की क्या जरुरत ? कम्युनिज्म तो आदमी की अपनी इच्छा और समझ है और उसकी आजादी !"

"महाशय चन्दन" का "कामरेड" पुकारा जाना नगर के कम्युनिस्टों के लिए बड़ी भारी मुसीबत बन गई। जनता का नेतृत्व कर पाने के लिए कामरेड लोग अपने आपको सदाचारी और आदर्श रूप में पेश करने के लिए चिन्तित थे। प्रत्येक कामरेड दूसरे कामरेड के चरित्र का उत्तरदायित्व अपने ऊपर समझता है। कामरेड लोग सामाजिक सभ्यता और आचार के सभी बंधन "कामरेड चन्दन" पर लगाने लगे जिनका "चन्दन महाशय" सदा से विरोध करते आए थे। इसके परिणाम में "कांग्रेस द्वारा घोषित कामरेड चन्दन" और "मार्क्स के अनुयायी कामरेडों" में गरमा-गरम बहस होने लगी।

कांग्रेस द्वारा घोषित "कामरेड" चंदन महाशय बाजार में खड़े होकर चोरी करने का समर्थन इस तर्क से करते थे कि पूंजीवादी व्यवस्था सम्पत्ति के आधार पर कायम है। पूंजीवादी पूंजी के हथियार से शोषण करता। हमें पूंजी और सम्पत्ति को मिटाना है। इस लिए सम्पत्ति की चोरी करने में खराबी क्या? वे बाजार में खड़े होकर सतीत्व की धारणा की निन्दा इसलिए करते थे कि पूंजीवादी व्यवस्था में स्त्री को पति अपनी सम्पत्ति समझता है। पतिव्रत धर्म का मतलब केवल पति की गुलामी है। स्त्री-पुरुष की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अर्थ स्त्री और पुरुष की पूर्ण स्वतन्त्रता है। पुरुष सम्पत्ति के जोर पर कई-कई औरतें रखता है तो संपत्तिहीन स्त्री क्या करे? जो सम्पत्तिहीन पुरुष विवाह नहीं कर सकता वह क्या करे? वे बाजार में खड़े होकर शराब पीना उचित समझते थे क्योंकि पूंजीपति रेशमी पर्दे के पीछे शराब पीना केवल अपना ही अधिकार समझता है और गरीब को बाजार में खड़े होकर शराब पीने पर हवालात भिजवा देता है।

चंदन महाशय की संपूर्ण राजनीति सन्तोष के सब साधनों पर अपना नियंत्रण जमा लेने वाले लोगों के विरुद्ध असन्तुष्ट व्यक्ति का व्यक्तिगत विरोध था और उन्होंने समझा कि कम्युनिस्ट पार्टी के मोर्चे से उन के इस व्यक्तिगत विरोध को प्रदर्शन का अवसर मिल सकेगा। और सफेद पोश मोटर सवार नेताओं के विरुद्ध यह उनके नेतृत्व का मोर्चा होगा।

परन्तु उनकी आशा निराशा में बदलने लगी क्योंकि कम्युनिस्ट लोग सभी आर्थिक और राजनैतिक प्रश्नों को व्यक्तिगत नहीं श्रेणीगत रूप में ही देखना चाहते थे। पूंजीवाद में व्यक्ति के दमन और अवसरहीनता का उपाय कम्युनिस्ट व्यक्तिगत उच्छृंखलता के रूप में करना कायरता और अपराध मानते थे। उनकी दृष्टि में इसका उचित उपाय था, शोषित श्रेणी की शक्ति और सार्वजनिक ढंग से साहस पूर्वक व्यवस्था को बदलने की मांग करना। वे कानून को व्यक्तिगत रूप से तोड़ना नहीं वल्कि सार्वजनिक शक्ति से उसे बदल देना उचित समझते थे।

ज्यों-ज्यों नगर में "चन्दन महाशय" को नई मिली उपाधि "कामरेड" का प्रचार होने लगा त्यों-त्यों नगर के कम्युनिस्टों को "कामरेड" शब्द के प्रति जनता की अश्रद्धा की आशंका बढ़ने लगी। कम्युनिस्ट लोग महाशय चन्दन को कामरेड पुकारने के लिए तैयार नहीं थे और न उन्हें अपने मंच पर उनकी "चन्दनवादी" विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने का अवसर देने के लिये।

एक रोज इक्के वालों की हड़ताल के सवाल पर कम्युनिस्टों द्वारा आयोजित सभा में चन्दन महाशय भी मौजूद थे। वे बार-बार मंच पर आ कर व्याख्यान देने के लिए आगे बढ़ रहे थे। कामरेडों ने उन्हें व्याख्यान देने का अवसर नहीं दिया। चन्दन महाशय के आग्रह करने पर कामरेडों ने इन्कार में उत्तर दिया:— "आप न इक्के वाले हैं और न हमारी पार्टी के मेंबर। आप के लिए यहां जगह नहीं।"

महाशय चन्दन ने अपनी आदत के अनुसार हाथ चला दिया। भरे बाजार में हाथ चला कर दूसरे की इज्जत झाड़ देने का उनका तरीका सदा से सफल होता चला आया था परन्तु कामरेड लोग शायद इसके लिए पहले से ही तैयार थे। कामरेडों ने उन्हें चारों ओर से घेर कर उनकी खूब पिटाई की।

शहर में कामरेडों की आपसी फूट का हल्ला हो गया। अवसर देख पुलिस ने वहुत से कामरेडों को हिरासत में ले लिया। कांग्रेस के शान्ति प्रिय नेता इस अत्याचार से बहुत दुखी हुये।

उन्होंने आवाज उठाई कि वे कांग्रेस के एक बहुत पुराने, अनुभवी, त्यागी, तपस्वी और जनसेवी कार्यकर्ता का कम्युनिस्टों द्वारा अपमान नहीं सह सकते। कामरेडों के विरुद्ध प्रचार करने और उन्हें उन्होंने जेल भिजवाने देने के लिए मामले को अदालत तक पहुंचा दिया।

कई दिन मामला चला और मामले के दौरान में चन्दन महाशय की प्रतिष्ठा शहर में बढ़ाने के लिये सभायें कर के कामरेडों के विरुद्ध निन्दा के प्रस्ताव पास किये जाते रहे। मामले का परिणाम जो भी हुआ हो परन्तु इस बीच "चन्दन महाशय" सचमुच प्रतिष्ठा के आसन पर पहुंच कर कांग्रेस के प्रतिष्ठित सदस्य बन गए। मुकद्दमा हार जाने पर भी वे कांग्रेस के नेतृत्व की बाजी जीत ही गये।

६

कुल मर्यादा

जब कहीं पुरुषार्थ और भाग्य की बात चलती है तो गंगाधर मिश्र उत्तेजित हो कर अपने प्रयत्नों की विफलता की कहानी सुनाने लगते हैं। मतलब यही होता है कि उन्हों ने सदा ही सद्भावना से भाग्य से लोहा लेने की चेष्टा की परन्तु होनहार की ज़बर्दस्त मुट्ठी से वे कभी छूट नहीं पाए। बात वे आरम्भ करते हैं सदा ही अपनी उठती जवानी के दिनों से।

उनका परिवार परम्परावादी था। परम्परावाद का राजनैतिक पहलू होता है, राजभक्ति। गंगाधर मिश्र के पिता अपने इलाक़े के काफ़ी बड़े ज़मींदार थे। अँग्रेज़ी राज में सरकारी अफ़सरों के कृपा-पात्र हो कर वे देहाती प्रजा में अपनी प्रतिष्ठा बनाए हुए थे। मामले-मुकद्दमें चला-चला कर उन्होंने अपनी जमींदारी का काफ़ी विस्तार किया था। अँग्रेजी सरकार की छत्र-छाया में अपनी ज़मींदारी का विस्तार करने के लिए, अपने अधिकार पर अँग्रेज़ी सरकार की मुहर पाने के लिए, उन्हें अँग्रेज़ी सरकार की अदालत के पंडों, वकीलों को अपनी आमदनी का एक बड़ा भाग पूज देना पड़ा था। क़ानून की रक्षा में ही मेहनत करने वाले किसान की पैदावार हथिया सकने के कारण, कानून के प्रति उनके मन में बहुत श्रद्धा और आदर था। उन्हें यह भी मालूम था कि इलाहाबाद हाइकोर्ट के बड़े-बड़े वकील सलाह-मात्र देने के लिए सौ रुपया प्रति घंटे के हिसाब से फ़ीस ले लेते हैं। इसलिए उन्हों ने अपने पुत्र को कानून की शिक्षा ग्रहण करने की सलाह दी। गंगाधर के पिता अपने पुत्र का भविष्य उज्ज्वल करने के लिये इस से ऊँचा और क्या आदर्श समझते? परन्तु यह पूरा नहीं हुआ।

सन १६३०–३१ में जब गंगाधर इलाहाबाद में पढ़ रहे थे, स्वराज्य के आन्दोलन का ज्वार बहुत ज़ोर से उठ खड़ा हुआ। इस आन्दोलन ने लोगों की भावना और दृष्टिकोण को ही बदल दिया। गंगाधर भी इस प्रभाव से न बच सके। सौ रुपया प्रति घण्टे के हिसाब से फ़ीस लेने वाले बड़े-बड़े वकील-बैरिस्टर अपने बँगलों में बैठ कर चाहे सोने के निवाले निगलते हों, जनता के हृदय से तो जयकार देश की मुक्ति के लिये आन्दोलन करने वाले नेताओं के नाम की ही उठती थी। गंगाधर स्वयं ऐसे प्रदर्शनों और जुलूसों में सम्मिलित होते थे। उन्होंने खद्दर का कुर्ता, धोती और गांधी टोपी पहिनना शुरू कर दिया था। उनके राजभक्त पिता को पुत्र का यह व्यवहार कुल की प्रतिष्ठा के लिये कलंक जान पड़ा और यह बात बहुत अपमानजनक लगी कि एक बड़े जमींदार का पुत्र देश की शासक सरकार के पक्ष में न हो कर दलित और छोटे लोगों के पक्ष में हो। इससे भी बड़ा आघात पिता को तब पहुंचा, जब गंगाधर ने छुट्टियों में घर जाने पर विवाह करने से इनकार कर दिया।

लड़कपन में ही गंगाधर की सगाई दूसरे जिले के एक बड़े भारी जमींदार के घर हो चुकी थी। सगाई के समय गंगाधर से कोई राय नहीं ली गई थी। गंगाधर के पिता का विचार था "लड़का हमारा है और सगाई हम कर रहे हैं; इस में लड़के की राय का सवाल क्या ?" उन की अपनी सगाई और उनके पिता की सगाई सदा से इसी प्रकार हुई थी। परन्तु जब विवाह का प्रश्न उठा, गंगाधर ने आपत्ति कर दी—"जब तक देश स्वतन्त्र नहीं हो जाता, हम विवाह नहीं करेंगे।" इलादाबाद में उसने बीसियों देश-भक्तों को देश के स्वतन्त्र न हो जाने तक खद्दर पहिनने, जूता न पहिनने और नमक न खाने की प्रतीज्ञा करते देखा था। गंगाधर मन-ही-मन देश के स्वतन्त्रता-संग्राम का सैनिक बनने का व्रत ग्रहण कर चुके थे। स्वराज्य आन्दोलन के प्रधान नेता महात्मा गांधी ने स्वराज्य के सैनिकों को भोग विलास से दूर रह कर ब्रह्मचर्य के पालन का उपदेश दिया था। इसलिये गंगाधर ने भी ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा कर ली थी।

देहात के लोगों के लिए गंगाधर के ब्रह्मचर्य व्रत की इस प्रतिज्ञा का आशय समझ पाना आसान नहीं था। परिवार वाले, सम्बन्धी और बिरादरी के लोग ऐसी नई बात से विस्मित रह गये। सभी लोग उन्हें समझदारी से काम लेने की राय देने लगे। गंगाधर अपनी प्रतिज्ञा से हटने के लिए तैयार न हुए तो लोगों में आहिस्ता-आहिस्ता दूसरी ही बात उठाने लगी—"नामर्द है। इसी से तो ब्याह करने से डरता है। नहीं तो भला उठती जवानी में कोई ब्याह से इनकार करता है?" देहात में सम्बन्धियों और बिरादरी में गंगाधर मिश्र के नामर्द होने की बात फैलने लगी। गंगाधर लोगों से मुंह चुराने लगे। अपने देहात में रहना उनके लिये कठिन हो गया।

१९३०-३१ में देश की स्वतन्त्रता का आन्दोलन जैसा प्रबल दिखाई दे रहा था और अंग्रेज सरकार के पाँव जैसे डगमगाते दिखाई दे रहे थे, उस से गंगाधर को स्वराज बरस-डेढ़-बरस से अधिक दूर नहीं जान पड़ता था। परन्तु आन्दोलन स्वराज्य पाये बिना ही शिथिल पड़ गया। गंगाधर खद्दर के कपड़े पहिनने की प्रतिज्ञा पर दृढ़ थे और विवाह करने से भी इनकार कर रहे थे। विवाह से उनका इनकार परिवार के लिये असह्य त्रास का कारण बन रहा था। कभी चिन्ता से माँ के बीमार हो जाने का समाचार मिलता और कभी क्रुद्ध पिता की धमकियाँ मिलतीं। नामर्दी के कलंक की बात भी फैल रही थी, सो अलग।

गंगाधर यह समझ चुके थे कि देश को स्वतंत्रता की राजनैतिक लड़ाई तो जीवन भर का व्रत है, साल-छै महीने की बात नहीं। इसलिये उसे जीवन में मिला लेना आवश्यक है। वे यह भी देख रहे थे कि देश के स्वतन्त्रता-संग्राम के बड़े-बड़े सभी नेता विवाहित हैं, उनके परिवार हैं और अनेक नेता अपनी स्त्रियों को साथ ले कर देश का नेतृत्व कर रहे हैं तो फिर विवाह न करने की प्रतिज्ञा से अपने परिवार को नाराज़ करने और स्वयं नपुँसक कहलाने से क्या लाभ? सोच-विचार कर, उन्होंने विवाह कर लेने की अनुमति अपने परिवार के लोगों को दे दी।

जब गंगाधर मिश्र ने विवाह से इनकार किया था तो उसके

विरोध में एक तूफ़ान उठ खड़ा हुआ था, उस तूफ़ान के के परिणाम-स्वरूप उनके नपुँसक होने की अफ़वाह फैल गई थी। अब जब वे विवाह कर लेने के लिए तैयार हुए तो वह नपुँसकता की अफ़वाह उनका विवाह होने में बाधा बनने लगी।

गंगाधर की नपुँसकता की अफ़वाह उनकी प्रस्तावित ससुराल या सगाई के गाँव तक पहुँच चुकी थी। जब गंगाधर विवाह करने से इनकार कर रहे थे तब उनकी ससुराल वाले इस बात से परेशान थे। उन्हें चिन्ता थी कि जवान लड़की को कब तक घर बैठाए रखें? यदि वे पुरानी सगाई तोड़ कर लड़की की नयी सगाई की कोशिश करते हैं तो यह सन्देह फैल जायेगा कि लड़की में कोई ऐब होने के कारण ही पहिली सगाई टूटी है। अब गंगाधर विवाह के लिए तैयार हो गए तो ससुराल के लोगों को गंगाधर की नपुँसकता की अफ़वाह ने चिन्तित कर दिया; "आख़िर लड़का अब तक ब्याह से इन्कार क्यों करता रहा?···भगवान न करे, लड़का कहीं सचमुच ही बेकाम है तो लड़की का भाग्य जान-बूझ कर कैसे फोड़ दें?"

अब गंगाधर के पिता विवाह के लिए जल्दी कर रहे थे और उनके समधी साइत, लगन और अपने परिवार की अनेक समस्याओं का बहाना कर टाल रहे थे। इस बीच में लड़की के परिवार की यह चेष्टा थी कि लड़के की नपुँसकता के विषय में फैली हुई अफ़वाह की जाँच-पड़ताल कर लें। उस पर अब तक जोगीपन का ख़ब्त क्यों सवार था? उसे ब्रह्मचारी ही रहना है तो ब्याह क्यों कर रहा है? वास्तविक स्थिति का पता लगाने के लिए इन लोगों ने अपने गोइन्दे छोड़े। गंगाधर के गाँव के भी दो-एक आदमियों को फोड़ कर जाँच-पड़ताल करने के लिए कहा। पर कुछ लोगों ने लड़के का डाक्टरी मुआइना करा लेने की सलाह दी! इसमें दोनों परिवारों की बदनामी का डर था।

बहुत कोशिश करने पर भी ऊख और अरहर के खेतों में गंगाधर के कभी कोई 'रहस-लीला' करने की घटना का समाचार नहीं मिला। गंगाधर की किसी बदकारी का प्रमाण न मिलने से लड़की के परिवार को संतोष के बजाय चिन्ता ही हुई। लड़की के परिवार

के गोइंदे प्रति क्षण ही गंगाधर पर नज़र रखते थे, उनके उठने-बैठने पर, घूमने-फिरने पर। यह बात गंगाधर के लिए संकट का कारण हो गई। देहात में शहरों की तरह परदेदार संडास और ग़ुसलखाने होते नहीं। सुबह-शाम जब गंगाधर लोटा ले दिशा-फ़रागत के लिए खेतों की ओर चलते तो एक-दो आदमी उनके पीछे हो लेते, या कहीं खेत की मेंड़ पर ही पेशाब करने बैठ जाने पर कोई-न-कोई सामने से या इधर-उधर आड़ से ताक-झाँक करने लगता। ऐसी अवस्था में गंगाधर अपमानित अनुभव कर चिढ़ जाते और गाली देकर और ढेला फेंक कर उन्हें भगाने की कोशिश करते। परन्तु सत्य के जिज्ञासुओं ने अपने चर्म चक्षुओं से स्थिति का समाधान किये बिना उनका पीछा नहीं छोड़ा। आख़िर चश्म-दीद गवाहों द्वारा गंगाधर की नपुँसकता की अफ़वाह गलत साबित हो जाने पर, उनका विवाह धूमधाम से हो गया।

गंगाधर का विवाह तो हो गया परन्तु गंगाधर ने गांधी जी के उपदेश के अनुसार गुलाम देश में गुलाम सन्तान पैदा न करने की प्रतिज्ञा कर ली थी। विवाह हो जाने पर भी वे गांधी जी के उपदेश के अनुसार ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते ही रहे। जब दो वर्ष बीत गए और उनकी बहू की गोद सूनी ही रही तो परिवार फिर चिन्ता में डूब गया। गंगाधर के परिवार में लड़की के बाँझ होने की और ससुराल में लड़के के वास्तव में ही नपुंसक होने की अफ़वाहें उड़ने लगीं। लड़के-लड़की पर से यह दैवी प्रकोप दूर करने के लिये दैवशक्तियों का आह्वान किया जाने लगा। गंडे-तावीज़ की व्यवस्था होने लगी।

गंगाधर की पत्नी बाँझ समझी जाने की लज्जा से मरी जा रही थी। वह अपने भाग्य को कोस रही थी कि 'जाने किस डाइन ने 'इनका' मन मुझ से फेर लिया है जो बात ही नहीं करते?' उसने गौरी-पूजा की। गंगाधर की माँ ने चौराहा पुजवाया और पीर की क़ब्र पर चढ़ाने के लिए चादर भेजी। कभी टोना कर के घर में चक्की के नीचे कुछ दबाया जाता। कभी कोई जादू गंगाधर के पलंग के पाये में बाँधा जाता और कभी दामन में। कभी वे अपने कपड़ों में कोई जन्तर-मंतर छिपाया हुआ देखते। कभी

पंडित कोई पूजा कर जाते और कभी फकीर फूँक मार जाते। गंगाधर यह सब देखते और इन मिथ्या विश्वासों से उन्हें चिढ़ और अपना अपमान मालूम होता।

पुराने विचार और मर्यादा के रक्षक ज़मींदार के परिवार में कड़े परदे की प्रथा थी। घर में जनाना और मर्दाना भाग अलग-अलग थे। दिन में गंगाधर कभी अपनी पत्नी से मिल ही नहीं सकते थे। रात में वे ब्रह्मचर्य के नियम का पालन करने के विचार से बाहर मर्दाने में ही रहते। असल बात तो यह है कि परम्परागत पर्दे की मर्यादा के अनुसार उन्होंने अपनी पत्नी का मुख भी न देखा था। वे उसे कुछ समझाते तो कैसे? मिथ्या-विश्वास के परिणाम-स्वरूप इस टोने-टोटके से ऊब कर एक दिन वे, घर के दूसरे मर्दों की तरह रात में चुपके से जनाने में गए और अँधेरे में भी परदे की मर्यादा की रक्षा करने वाली, घूंघट काढ़े अपनी पत्नी को यह समझा दिया—"तुम्हें अपने जो वहम पूरे करने हों, कर लो! चक्की, चूल्हा, तोरण, तीरथ, मसान, जो भी पूजना हो, पूज लो! मैं तुम्हें एक वर्ष का समय देता हूं। इसके बाद मैं बात करूँगा।"

गंगाधर अपनी बात की रक्षा के लिये अगले दिन गाँव छोड़ इलाहाबाद चले आए और उत्साह से कांग्रेस के काम में लग गए। घर में वर्ष भर उनकी पत्नी और माँ देवताओं की शक्ति को सत्य प्रमाणित करने के लिये जादू-टोने में और भी जोर से लगी रहीं। दोनों पक्ष अपनी-अपनी प्रतिज्ञा और विश्वास पर दृढ़ थे। गंगाधर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, एक वर्ष बाद घर लौटे और फिर प्राकृतिक नियम के अनुसार, नियमित समय पर उनके घर सन्तान भी हो गई और उन्हें नपुंसकता के कलंक से छुट्टी मिली।

अपने दो व्रतों पर दृढ़ न रह सकने का खेद गंगाधर मिश्र के मन में बहुत दिन तक नहीं रहा। उन्होंने अपने जीवन को परिस्थितियों के अनुसार सुधारने का प्रयत्न आरम्भ किया। लक्ष्य उन के जीवन का केवल देश की सेवा ही था। सौभाग्य से उनके नौकरी न करने अथवा जेल चले जाने पर परिवार के भूखे मरने की नौबत न आ सकती थी। इसलिये वे पूरी शक्ति से देश-सेवा

के ही काम में लगे थे। देश-सेवा के लिये उन्हें रहना पड़ता था इलाहाबाद में। अपने जीवन के इस कार्य को अधिक संतोषजनक बना सकने के लिये उनकी इच्छा थी कि उनकी पत्नी भी देहात के संकीर्ण और कुसंस्कारपूर्ण वातावरण से छुट्टी ले उनके साथ इलाहाबाद में ही रहे।

इस इच्छा के लिये यथेष्ट कारण भी मौजूद थे। इलाहाबाद में स्त्रियाँ स्वतन्त्रता के आन्दोलन में आगे बढ़ कर भाग ले रही थीं। कांग्रेस के प्रमुख नेता सभामंच पर प्रायः सपत्नीक बैठते थे। कांग्रेस के आन्दोलन में पत्नी को साथ लेकर चलने वाले नेता आधुनिक समझे जाते थे और उनका विशेष आदर था। गंगाधर मिश्र पत्नी होते हुए कांग्रेस में सपत्नीक नेता क्यों न बनते? इस महत्वाकांक्षा के पूर्ण होने में कांग्रेस अथवा जनता की ओर से कोई रुकावट नहीं थी। गंगाधर ने इस विषय में अपने साथियों और सहयोगियों से सलाह ली। उन्होंने उन्हें स्त्री को शहर में लाकर आधुनिक बनाने के लिये उत्साहित किया। रुकावट थी तो केवल अपनी पत्नी और परिवार की ओर से, जो परदे के रूप में कुल की मर्यादा को देश की समस्याओं और सभ्यता के आधुनिक विकास से अधिक महत्व दे रहे थे।

गंगाधर मिश्र ने अपनी सदिच्छा को पूर्ण करने के लिए मन-ही-मन यह षड़यंत्र रचा कि वे माघ-मेले के अवसर पर पत्नी को गंगा-स्नान के लिए इलाहाबाद ले आयंगे। स्त्री को एक बार परम्परागत मर्यादा के गढ़ से निकाल लेने पर फिर वे जैसा उचित समझेंगे, करेंगे।

गंगाधर ने जब घर आ अपनी स्त्री को 'माघी-पूर्णिमा' का स्नान कराने की इच्छा प्रकट की तो इस पर परिवार के लोगों को कोई आपत्ति न हुई। बहू को स्नान करने के लिये भेजते समय गंगाधर की माँ ने अनेक आवश्यक वस्तुयें गठरी बाँध साथ कर दीं और देहात से एक लड़का भी काम-काज के लिए, नौकर के रूप में, साथ कर दिया।

गोद में बच्चा लिए अपनी पत्नी और नौकर के साथ गंगाधर इलाहाबाद के स्टेशन पर पहुँचे। उनके सामने समस्या यह थी कि

पहले डेरा कहाँ डालें। इलाहाबाद से जाते समय वे कोई प्रबन्ध कर नहीं गए थे। घोर परदे की मर्यादा के अनुसार चलने वाली स्त्री को, जिसकी बोली भी कभी बाहर के किसी आदमी ने न सुनी थी, सीधे काँग्रेस के दफ्तर में—जहाँ केवल सिर उघाड़ कर देश की सेवा करने वाली देवियों का ही आना-जाना था—लिवाए चले जाने का उन्हें साहस न हुआ। किसी मित्र या परिचित के यहाँ सहसा परिवार को ले कर पहुँच जांय, यह भी उचित न जँचा। इसलिए, स्त्री और नौकर को वेटिंग-रूम में ठहरा कर और स्वयं शहर जा कर प्रबन्ध कर लेना ही उन्होंने उचित समझा।

कांग्रेस दफ्तर में पहुँच गंगाधर ने शर्माते-शर्माते अपने सहयोगियों और मित्रों के सामने अपनी समस्या रख स्थान का कोई प्रबन्ध करने के लिए कहा। मित्रों ने विस्मय से कहा—"अरे, तो तुम भाभी को साथ क्यों नहीं लेते आए ?......उन्हें स्टेशन पर क्यों छोड़ आए ?"

"कैसे ले आता ?"—कुछ झेंप के साथ गंगाधर ने उत्तर दिया—"वह हाथ भर का घूंघट काढ़े है। यहाँ वह कहाँ बैठती ? ज़रूरत पड़ने पर वह किसी से एक गिलास पानी भी तो नहीं माँग सकती। पहले कभी उसने घर की दहलीज तो क्या, ज़नाने की दहलीज भी तो नहीं लाँघी। सच मानो, ब्याह हुए चार बरस होने को आ रहे हैं, पर हमने अभी तक उसका मुँह भी नहीं देखा।"

गंगाधर के सहयोगी कार्यकर्त्ताओं और मित्रों ने आँखों-ही-आँखों में बातें की और उन्हें सांत्वना दी—"घबराने की क्या बात है ? सब ठीक हो जायगा। तुम रात भर के सफ़र से थके आए हो। नल पर नहाओ-धोओ। अभी वालंटियरों को भेज कर तुम्हारे परिवार को यहाँ बुलाए लेते हैं। सुविधा से दूसरा प्रबंध भी हो जायगा।" वैसा ही किया भी गया।

गंगाधर के काँग्रेसी मित्रों द्वारा भेजे गए दो वालंटियर स्टेशन के वेटिंग-रूम में पहुँचे। गंगाधर की बताई हुई बिस्तरे-बक्स,

नौकर और उनकी स्त्री के बच्चे और दुपट्टे की पहिचान से गंगाधर के परिवार को पहिचान लेने में कोई कठिनाई नहीं हुई। उन्होंने नौकर को समझाया कि मिश्र जी ने हम लोगों को तुम्हें लिवा ले जाने के लिए भेजा है। वे तुम लोगों की प्रतीक्षा कर रहे है। वालंटियर मिश्र जी के परिवार को स्टेशन से लिवा ले गये।

डेढ़-एक घंटे के बाद कांग्रेस के दफ्तर में चिन्ताजनक खबर पहुँचा, कि वालंटियर जब स्टेशन पर पहुँचे तो गंगाधर मिश्र की स्त्री, बच्चा और नौकर वहाँ मिले ही नहीं। गंगाधर ने सुना, तो उनके पाँव तले से धरती खिसक गई। वे "हैं" कह कर आँखें और हाथ फैलाए रह गए।

उन्हें घबराया देख उनके मित्रों और सहयोगियों ने सान्त्वना दी—"यों घबराने से काम नहीं चलेगा। यह इलाहाबाद है और दिन भी मेले के हैं। यहाँ पंडे और दूसरे बदमाश जो न करें, थोड़ा परन्तु घबराओ नहीं। आखिर हम लोग तो मदद के लिए हैं ही। अभी कांग्रेस के शाखा-दफ्तरों और पुलिस की चौकियों को फ़ोन करते हैं। आखिर उन्हें कोई ले कहाँ जायगा? स्टेशन पर भी चौकसी का प्रबन्ध किये देते हैं।"

गंगाधर का दिल धक-धक कर रहा था। आँखों में बार-बार आँसू उमड़ आते। वे स्त्री को आधुनिक बनाकर उसकी उन्नति करने के लिए देहात से शहर लाए थे और स्टेशन पर ही उसे खो बैठे। वे अब जाकर अपने परिवार वालों को क्या मुंह दिखायेंगे? उन्हें इस संकट में कोई उपाय नहीं। सूझ रहा था। उनके हाथ पैर ढीले पड़ रहे थे। परन्तु उनके मित्र और सहयोगी उन्हें सांत्वना देते हुए, बड़ी तत्परता से जगह-जगह सन्देश भेज रहे थे और बार-बार फ़ोन उठा कर, नम्बर माँग कर, गंगाधर की पत्नी और नौकर का हुलिया बता-बता कर शीघ्र खोज करने का अनुरोध कर रहे थे। वे मिश्रजी को भी बताते जाते कि अब 'दारागंज' थाने को फ़ोन कर दिया, अब 'मुट्ठीगंज' को अब 'कटरे' को। गंगाधर उन्हीं पर भरोसा किए हुए थे। उन्हें थानों के फ़ोन नम्बरों का क्या पता था? बीच-बीच में चिन्ता और आशंका की बात भी चलती जा

रही थी कि बदमाश और गुंडे मेले के दिनों में कैसे औरतों को उड़ा ले जाते हैं और कैसी-कैसी कठिनाइयों से वे ढूँढ़ी जाती हैं और कभी-कभी तो कुछ पता ही नहीं चलता।

गंगाधर के मित्रों ने ही यह सन्देह प्रकट किया—"भाई मिश्र जी, कहीं तुम्हारे नौकर ने ही तो बदमाशी नहीं की? कभी-कभी घर के नौकर ही भयंकर संकट पैदा कर देते हैं।"

यह बात गंगाधर की समझ में नहीं आ रही थी कि बारह-चौदह वर्ष का उनका देहाती नौकर, जो पहले कभी किसी शहर में नहीं गया, जो रेल पर भी पहिली ही बार चढ़ा है, इतना चालाक कैसे हो जायगा कि उनकी स्त्री को भगा कर बेचने की हिम्मत करे।

दोपहार बीत चुकी थी। साथियों ने गंगाधर से कुछ खा-पी लेने के लिए कहा। उनके लिए हलवाई के यहाँ से पूरियाँ मंगवा दी गईं परन्तु कौर उठा कर मुंह में डालना गंगाधर के लिए सम्भव न था। वे बार-बार सोचे जा रहे थे—'उसने तो सुबह से पानी भी नहीं पिया होगा और मेरे पहले खा चुके बिना वह अन्न छुएगी भी नहीं। उसका क्या हाल होगा? उसे कोई जहाँ ले जायगा, वहाँ वह किसी से शिकायत भी तो नहीं कर सकेगी। बस, रोती ही रहेगी। वह नाम लेकर यह भी तो नहीं बता सकती कि किसकी औरत है। गोद का चार महीने का बच्चा तो अभी रोना-हँसना भी नहीं जानता......।' सामने रखे पूरी-तरकारी के दोनों को उन्होंने एक ओर को सरका दिया।

तीसरा पहर बीत रहा था। जब गंगाधर के मित्रों और सहयोगियों ने देखा कि मिश्रजी सचमुच बच्चों की तरह बिलख-बिलख रोने लगे, तब कहीं फ़ोन करने और सन्देश सुनने के बाद उन्होंने गंगाधर को सांत्वना दी—"सुनो, सेवा समिति वाले पं० ज्वाला प्रसाद के यहाँ से फ़ोन आया है कि सेवा समिति के वालंटियर एक भटकी हुई स्त्री को उनके यहाँ लाये हैं। उसकी गोद में छोटा-सा बच्चा भी है। बेचारी जब से आई है, रो-रो कर परेशान हुई जा रही है। हिन्दू औरत के लिये यह भी तो एक

मुसीबत है कि अपने मर्द का नाम भी तो नहीं बता सकती। चलो, देख तो लो!"

उन्हें तैयार होते देख सहयोगियों और मित्रों ने स्वयं ही प्रश्न किया—"भैया सोच लो! खामखाह घबराहट में किसी पराई औरत को अपनी न समझ बैठना। कहीं और मामला खड़ा न हो जाय।...तुम अपनी औरत को पहिचानते भी हो?...कभी देखा है?" खबर सुन कर गंगाधर को कुछ उत्साह हुआ था परन्तु इस प्रश्न से उनका उत्साह भंग हो गया। पहचान वे कैसे सकेंगे? अपनी स्त्री का मुँह तो उन्होंने देखा ही न था।

सोच कर गंगाधर ने धैर्य से उत्तर दिया—"शक्ल नहीं पहचानेंगे, कपड़े जो पहन के आई है वह तो पहचानेंगे। अच्छा, हम उसे घूँघट में नहीं देख सकते थे उसने तो घूँघट में से हमें देखा होगा। वह तो हमारी आवाज पहिचानेगी।"

सहयोगियों ने मुस्कराहट दबा कर स्वीकार किया—"मिश्र जी की बात ठीक ही है।" और वे उन्हें पंडित ज्वालाप्रसाद के यहाँ ले गए।

सुबह स्टेशन से लाकर वालंटियर गंगाधर मिश्र की स्त्री और बच्चे को पंडित ज्वालाप्रसाद के यहाँ छोड़ गए थे तो पंडित जी की घर की स्त्रियों ने उस के लिए नहाने-धोने और कपड़े बदलने की व्यवस्था कर सांत्वना दी थी—"कि मिसिरजी हमारे जाने-पहिचाने हैं। यह तुम्हारा अपना ही घर है। नहा-धो कर सफ़र के कपड़े बदल लो, और आराम करो।" उसके लिए जनाने में सब व्यवस्था कर दी गई थी। मिश्र जी की स्त्री को कोई चिन्ता भी नहीं हुई थी। वह जानती थी कि परदे वाले घर के कायदे के अनुसार दोपहर भोजन के समय से पहले 'वे' भीतर क्या आयेंगे परन्तु जब पति दोपहर में भी न लौटे तो वह चिन्तित होने लगी।

चौथे पहर के क़रीब जब घबराए हुए गंगाधर दो आदमियों के साथ जनाने की ड्योढ़ी में उसके सामने आ खड़े हुए तो उसने लम्बा घूंघट काढ़ मुँह दीवार की ओर कर लिया। मिसरानी नहा

धो कर सफर के, मिश्र जी के पहचाने कपड़े बदल चुकी थीं। गंगाधर सामने खड़ी घूंघट में लिपटी अपनी स्त्री को ओर देख रहे थे परन्तु उसे अपनी स्त्री कहने का साहस नहीं कर पा रहे थे।

उनके सहयोगियों ने सम्बोधन किया—"तो फिर क्या कहते हो ?"

"कैसे क्या कहें, भाई ?"—गंगाधर ने अधीर हो कर उत्तर दिया—"यही कुछ कह सकती है।"

"होतीं तो कहती न ?"—एक बोले

"तो फिर कहीं और चल कर ढूँढ़ें ?"—दूसरे ने सलाह दी।

सामने खड़ी स्त्री का सिर और अधिक झुक गया।

गंगाधर लौटने को हुए परन्तु साहस कर सहसा बोल उठे—"हमें पहचानतो हो ?……बोल नहीं सकतीं तो रो ही दो।"

स्त्री के आँचल से आँसू पोंछ कर रोने का संकेत करने पर गंगाधर की जान में जान आई। उन्होंने पूछा—"मुन्ना कहाँ है ?"

स्त्री ने हाथ से भीतर के दरवाजे की ओर संकेत कर दिया।

कमरे से बाहर निकल गंगाधर के सहयोगियों ने बहुत गम्भीरता से समझाया—"भैया, देख कर पक्का कर लो !……अब भी कहीं धोखा तो नहीं ?"

परन्तु उनके हँसी न सम्भाल सकने के कारण गंगाधर उनके जाल को समझ गए। दोनों हाथ से नमस्कार कर बोले—"गुरु लोगो, भर पाया तुम्हारी कृपा से। अब उस नौकर लड़के का पता और बता दो।"

नौकर का पता लगाने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

गंगाधर मिश्र ने पत्नी का घूंघट जबर्दस्ती हटा दिया—"देखो, यह परदा कितने अनर्थ की जड़ है।" उन्होंने देश के पूज्य बड़े-बड़े नेताओं के नाम बता कर समझाया—"देखो उन लोगों की स्त्रियां परदा नहीं करतीं। भगवान राम तो जानकी जी को गोद में लेकर सभा में बैठते थे। तुम्हीं क्यों इस तरह अज्ञान में फँसी हो और मेरी हँसी कराती हो ?"

मित्रों और सहयोगियों की सहायता से गंगाधर मिश्र ने कटरे में एक मकान ले लिया। उनका इरादा वहीं बस जाने का था। पर एक महीना भी नहीं बीत पाया था कि बहू के घर न लौटने से गंगाधर के पिता और माता चिन्तित हो परिस्थिति समझने के लिए इलाहाबाद आ पहुंचे। देहात में फैलती अफवाहों से उनके कुल और परिवार की मर्यादा पर कलंक लग रहा था। लोग कह रहे थे कि इतने बड़े खानदानी जमींदार का पुत्र बहू को बग़ल में लिये इलाहाबाद के बाजारों में घूमता है।

गंगाधर के माता-पिता ने इलाहाबाद आ कर यह अनाचार अपनी आँखों से देखा तो उनके पाँव तले से धरती खिसक गई। गंगाधर ने देश के बड़े से बड़े नेताओं के उदाहरण दे कर पिता से पर्दे के विरुद्ध तर्क करना चाहा। पुत्र का यह दुस्साहस देख गंगाधर के ज़मींदार पिता की आँखें क्रोध से लाल हो गईं—"मैं तेरा बाप हूं या तू मेरा बाप है?.........कुल कलंक बाप से जबान लड़ाता है?"

उन्होंने पुत्र के इस अनाचार के विरोध में गंगा के किनारे बैठ अनशन कर प्राण त्याग देने की धमकी दे दी। गंगाधर मिश्र को इस सत्याग्रह के सामने पराजय स्वीकार कर लेनी पड़ी। उनके माता-पिता बहू को साथ ले गाँव को लौट गए और उन्होंने अपने 'कुल की मर्यादा' को फिर घर के जनाने परदे में सुरक्षित कर दिया। बेचारे गंगाधर सपत्नीक नेता बनने के प्रयत्न में भी विफल हो, माथा ठोंक कर रह गए।

डिप्टी साहब

दत्ता साहब की दृष्टि में धन वैभव से अधिक महत्व था आदर और सम्मान का। वे विशेष परिश्रम से प्रतियोगिता परीक्षा पास करके डिप्टी के पद पर प्रतिष्ठित हो चुके थे। उनके जीवन के दो पहलू थे। एक पहलू था साधारण मनुष्य का, जिसमें वे साधारण मनुष्य की तरह परिस्थितियों का प्रभाव अनुभव करते थे। दूसरा था समाज के शासक का। इस पहलू से वे समाज में अनाचार, अपराध और अनैतिकता को रोक-थाम करके समाज के नियामक और रक्षक बने हुए थे। इन दोनों पहलुओं में सामंजस्य बनाये रखना सुविधाजनक नहीं।

असलियत तो यह है कि लोगों पर अपराध, अनाचार और अनैतिकता के नाम पर बंधन लगाने की आवश्यकता न हो तो सरकार और सरकारी अफसरों की आवश्यकता ही क्या? समाज में अनाचार, अपराध, इन्हें रोकने वाली सरकार और सरकारी अफसर सब एक ही कारण और स्रोत से पैदा होते हैं। मजे की बात यह है कि अनाचार और अपराध के कारण पैदा होने वाली सरकार और उस सरकार के अफसर अनाचार और अपराध से मुक्त और पवित्र होते हैं, या समझे जाते हैं। विचित्रता इसमें कुछ है भी नहीं। खेत या बाग की क्यारियों में कूड़ा-करकट और मल-मूत्र ही डाला जाता है परन्तु उसमें से उगते फूल हैं, जिन्हें गले में पहना जाता है और मेज पर आदर से सजाया जाता है। वैसे ही समाज के अनाचार, अपराध से उपजे सरकारी अफ़सरों और न्यायाधीशों के भी शासन और न्याय के सिंहासनों पर सजा दिये जाने में कोई अस्वाभाविकता नहीं समझी जानी चाहिये।

जो भी हो, डिप्टी न्यायाधीश दत्ता साहब ने यह कभी अनुभव नहीं किया था कि वे समाज के अपराध, अनाचार और अनैतिकता की खाद से उपजे हुए एक सम्मानित फूल हैं जिन्हें न्यायधीश की कुर्सी के फूलदान में सजा दिया गया है। समाज का अंश होने के नाते उनके व्यक्तित्व में भी समाज के अनाचार, अनैतिकता और अपराध के तत्व मौजूद हो सकते हैं ; जैसे फूलों को यदि सम्भाला न जाये तो वे तुरंत खाद बन जाते हैं। उन्हें अपराध, अनाचार और अनैतिकता के प्रति तो क्रोध था ही, इसके अतिरिक्त संकीर्णता से भी घृणा थी।

संकीर्णता का संबन्ध प्रायः ही होता है साधनों से। जीवन में प्राप्त हो सकने वाले साधन मनुष्य के आचार-व्यवहार पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहते। मनुष्य की परिस्थितियों और जीवन रक्षा के लिये आवश्यक व्यवहार से ही उसके विचार बन जाते हैं। अब यही समझ लीजिये कि समाज में उदारता का आदर पाने के लिये यह आवश्यक है कि आप मित्रों को प्रायः आमंत्रित करें। यदि आप अपने समकक्ष लोगों की तरह उदारता प्रकट नहीं कर सकते, स्पष्ट शब्दों में कहिये कि यदि आप अपने सामाजिक स्तर और दर्जे के लोगों के समान खर्च नहीं कर सकते, तो आप संकीर्णता अनुभव करने लगते हैं, स्वयं अपनी दृष्टि में ही अपमानित या अपने आपको नीचा अनुभव करने लगते हैं। एक सरकारी अफसर के लिये तो इस प्रकार की अनुभूति बहुत ही स्वाभाविक है; क्योंकि उसका स्तर सर्वसाधारण से ऊपर अथवा असाधारण है। अपना सम्मान बनाये रखना उसके लिये आवश्यक है। उक्त कठिनाइयों से बचने के लिये डिप्टी न्यायाधीश दत्ता साहब संयम को बहुत महत्व देते थे। निस्सन्देह संयम आत्मसम्मान की रक्षा का मुख्य साधन है। इस विषय में उनके आदर्श थे अंग्रेज अफसर।

दत्ता साहब सरकारी अफसर के लिये अपमान और पतन का मूल मानते थे रिश्वत स्वीकार करना। जो अफसर अनाचारी और अपराधी के सम्मुख हाथ फैला सकता है, वह न्याय की रक्षा क्या करेगा? गूढ़ विचार से उन्होंने यह जान लिया था कि

रिश्वत की फिसलती राह पर अफसर को ढकेलता है फिजूल खर्ची करने के लिये धन का लोभ ! उससे बचने का उपाय है, आर्थिक संयम। उनके आर्थिक संयम का एक रूप था हिन्दुस्तानी समाज की अति-सामाजिकता था भाई चारे के व्यवहार से यथा संभव दूर रहना। उनका बंगला सिविल लाइन्स में था। वे अंग्रेज अफसरों की तरह अपना मासिक बजट बना कर, अंग्रेज़ अफसर के संयम और रोब से ही अपना खर्च निभाते थे। सौभाग्य से उन्हें सुशिक्षिता पत्नी मिली थी। पति-पत्नी-दत्ता साहब और मिसेज दत्ता—डिप्टी न्यायाधीश की सीमित तनख्वाह में सम्मानित पद के असीम आदर को बड़े यत्न से निभाये जा रहे थे।

सुशिक्षित पति-पत्नी आधुनिक, सभ्य पारिवारिक जीवन के रहस्यों का परिचय विवाहित जीवन के सम्बन्ध में अंग्रेजी पुस्तकें पढ़कर पा चुके थे। इसलिये उनके परिवार पर संतान का बोझ 'भगवान की इच्छा' के रूप में, उनके अनजाने में ही नहीं आ पड़ा था। विवाहित जीवन के चार या पांच वर्ष पति-पत्नी के सख्य और आमोद में व्यतीत हो जाने के बाद जब डिप्टी साहब और मिसेज दत्ता एक सुन्दर बच्चे के बिना अपने जीवन को अपूर्ण समझने लगे तभी एक फूल-सी सुन्दर कन्यां को उनके यहां जन्म लेने का अवसर मिला। इस संतान के प्रति दत्ता साहब और मिसेज दत्ता के शौक, उत्साह और आदर का वही दरजा था जो बड़े से बड़े अंग्रेज अफसर के घर हो सकता था। बिल्कुल सफेद कपड़े पहिने एक सुथरी आया, विलायती ढंग का एक पलना, बढ़िया पिरेम्बुलेटर (हाथ से ढकेली जाने वाली बच्चों की गाड़ी) उनके बंगले के ग़मलों से घिरे बरामदे में दिखाई देने लगे।

डिप्टी साहब और मिजेस दत्ता प्रायः ही संध्या समय पिरेम्बुलेटर में 'डौली' को लिटाये ठंडी सड़क पर घूमते दिखाई देते थे। डौली अभी तीसरा वर्ष भी पूरा नहीं कर पायी थी कि ठीक बड़े आदमियों के कायदे के मुताबिक डिप्टी साहब का नौकर उसे ठीक समय पर 'कन्वेंट' के किंडरगार्टन (बहुत छोटे बच्चों के स्कूल) में छोड़ आने लगा। डिप्टी साहब और मिसेज दत्ता दोनों को ही इस बात का गर्व और सन्तोष था कि वे अपनी पुत्री डौली के

लिये जीवन में विकास और पूर्णता पाने के सभी अवसर देकर अपना स्नेह और कर्तव्य पूरा कर रहे हैं। पति-पत्नी प्रायः ही इस बात पर मत प्रकट करते थे कि जब तक संतान के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करने का सामर्थ्य न हो, संतान उत्पन्न की क्यों जाये ? जो लोग संतान के प्रति अपने कर्तव्य की उपेक्षा करते हैं और संतान उत्पन्न किये भी जाते हैं, उन्हें दत्ता साहब और मिसेज दत्ता क्रूर अपराधी करार देते थे।

जीवन में संतोष और पूर्णता की सीमा हम स्वयं ही निश्चित करते हैं। जीवन में पूर्णता की इस सीमा के विस्तार की मधुर इच्छा से मुग्ध किसी एक क्षण में, जब मिसेज दत्ता अपने प्यारे जीवन-संगी के गले में बाहें डाले हुए थीं, गुलाबी आंखों और संकोच से अस्पष्ट स्वर में कह बैठीं—"एक लड़का और..."

मिस्टर दत्ता को अपनी प्यारी पत्नी का यह प्रस्ताव अपने मन की ही बात जान पड़ी। आयोजना के अनुसार चलने वाले इस परिवार में उचित समय पर एक पुत्र ने भी जन्म ले लिया। इस नवागंतुक के आने के उत्साह ने दत्ता साहब के पारिवारिक सुख-संतोष को और भी बढ़ा दिया। दत्ता साहब और मिसेज दत्ता अपने इस संतोष को प्रकट करने के लिये प्रायः ही आपस में एक दूसरे को याद दिलाते रहते—"बस......अब और नहीं ! एक लड़का और एक लड़की..."

आप चाहे इसे समझदार आदमियों की भूल-चूक कहिये या अपनी कृपा दिखाने पर भगवान का हठ, डौली का भाई 'मधु' अभी 'किंडर-गार्टन' में जाने लायक भी नहीं हो पाया था कि एक दिन मिसेज दत्ता ने कुछ झेंप और चिंता की मुद्रा और स्वर में पति को चिंताजनक रहस्य की सूचना दी—"कुछ गड़बड़ी मालूम होती है..."

आशंका से फैले नेत्रों से पत्नी की ओर देख दत्ता साहब ने प्रश्न किया—"क्यों ?...कैसे ?..." और फिर बीते महीनों में रहस्यमय अवसरों की स्थिति का विश्लेषण कर लेने पर मामूली सी उपेक्षा के लिये दुखी हो दोनों को चिंता में चुप रह जाना पड़ा।

पति-पत्नी ने कई दिन तक आपस में विचार और चिंता कर अपने दोनों बच्चों और भविष्य में हो सकने वाली संतान के प्रति कर्तव्य और न्याय की धारणा से यही निश्चय किया कि उनके परिवार में और संतान के लिये स्थान नहीं। परन्तु मामूली सी चूक के परिणाम स्वरूप प्रकृति को हस्तक्षेप का अवसर मिल गया था। अपनी संतान और अपने प्रति न्याय के अधिकार की धारणा से प्रकृति की इस ज्यादती को रोकना भी जरूरी था। यहीं डिप्टी न्यायधीश की कानूनी न्याय की धारणा सिर उठा कर सामने खड़ी हो गयी।

घंटों मौन रह कर और कई रात बिस्तर में जागते रह कर डिप्टी न्यायाधीश यह सोचते रहे कि स्वयं उनके अपने जीवन के सुख की रक्षा, जीवन में औचित्य की रक्षा, अपनी संतान के प्रति कर्तव्य के मार्ग में कानूनी न्याय का सर उठा कर खड़े हो जाना कहाँ तक उचित है? न्यायाधीश का व्यक्तिगत विवेक और अपने जीवन के अवसर की रक्षा की प्रवृति इस बात का आग्रह कर रही थी कि उन्हें इस बात का अधिकार है कि जितना बोझ वे उंठा सकते हैं, उससे अधिक बोझ अपने कंधों पर न लादा जानें दें! परन्तु भारतीय दण्ड विधान की धारायें पुलिस की लाल पगड़ी और वर्दी पहन कर कह रही थीं कि गर्भ गिराना अपराध है...! न्याया-धीश की कर्तव्यपरायणता से ही नहीं बल्कि ऐसी अनैतिकता और अपराध के प्रति घृणा से भी ड़िप्टी साहब कितनी ही बार 'भ्रूण-हत्या' (गर्भपात) के अपराधियों को कठोर सजायें दे चुके थे।

इस चिन्ता ने कुछ ही दिन में डिप्टी न्यायाधीश दत्ता की कनपटियों पर आती सफेदी को बढ़ाने में कितनी सहायता दी, यह दत्ता साहब और मिसेज दत्ता दोनों ही जानते थे। हफ्तों तक कानूनी न्याय की धारणा को मान्यता देने का यत्न करते रहने पर भी दत्ता साहब यह स्वीकार नहीं कर सके कि उनके पारिवारिक जीवन के सामंजस्य को बरबाद कर देने का अधिकार कानून को है। उन्होंने समस्या के क्रियात्मक समाधान का उपाय सोचना आरम्भ कर दिया।

यह उतना सरल न था। वे फूहड़, कमीने लोगों की राह नहीं

चल सकते थे। इस में मिसेज दत्ता के जीने-मरने की आशंका उत्पन्न हो सकती थी। ऐसे कई मुकदमों में पुलिस के गवाहों के बयान से वे कई फूहड़ तरीके पुराने गुड़ और विषैली जड़ी बूटियों के प्रयोग की बातें सुन चुके थे। इन फूहड़ उपायों के परिणाम स्वरूप अनेक सम्भावित माताओं के प्राण बलिदान हो जाने की घटनायें उनके सामने आ चुकी थीं वे अपनी आदरणीय प्यारी पत्नी, अपने प्यारे बच्चों की माँ का जीवन दाँव पर लगाने के लिए तैयार नहीं थे। वे दक्ष और अनुभवी लेडी डाक्टर के सिवा किसी फूहड़ दाई के हाथों मिसेज दत्ता का जीवन सौंपने के लिए तैयार नहीं थे। हो सब कुछ सकता था, क्योंकि समाज में होता ही है। परन्तु न्यायाधीश के पद पर बैठे दत्ता साहब वह सब करने का साहस किस मुंह से करते ?

आवश्यक था, इसलिये उसका भी उपाय हुआ। उपाय हुआ एक अत्यन्त निकट सम्बन्धी की मार्फत। एक दक्ष और अनुभवी लेडी डाक्टर की फीस और उचित प्रबन्ध के लिये आवश्यक व्यय का अनुमान हुआ १,१०० रु०। यह अनुमान सुनकर दत्ता साहब कुछ देर दांतों से होंठ दबाये रह गये। व्यय की इस रकम के मानसिक आघात के बाद जब उन्होंने यह रकम खर्च न करने के परिणाम को सोचना आरम्भ किया—प्रसव के समय डाक्टर की फीस, नयी संतान और नयी आया का प्रति मास का खर्च और बीसों वर्ष तक तीसरी संतान की उचित शिक्षा और दीक्षा का खर्च, तो इस १,१०० रु० की रकम के आगे बिंदियों पर बिंदियां जुड़ती चली गयीं। उनके स्तर के ऊंचे वर्ग में अनायास ही उत्पन्न हो जाने वाली संतान के लिये उसी प्रकार अनायास ही स्थान नहीं बन सकता था जैसे कि निम्न वर्ग में होता है। निम्न वर्ग के परिवार की डलिया में जहां एक मुट्ठी बेर पड़े रहते हैं वहां दो चार बेर घट-बढ़ जाने से कोई फर्क नहीं पड़ता। परन्तु सम्मानित वर्ग का परिवार अंगूर की पिटारी की तरह है, जहां प्रत्येक अंगूर रुई में लपेट कर अलग अलग तरतीब से रखा जाता है। स्थानाभाव के कारण उनके दब कर दागी हो जाने का भय रहता है···आखिर दूरदर्शिता के विचार ने दत्ता साहब को परास्त कर

दिया; उधार लेकर भी यह व्यय करना ही पड़ा। बड़ी सावधानी से, गोपनीय ढंग से, एक अनुभवी और दक्ष लेडी डाक्टर की सर्जरी में वह काम हो जाने की योजना हो ही गयी।

इसे ग्रहों के योग या घटनाओं के षड्यन्त्र के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है कि जब डिप्टी न्यायाधीश दत्ता साहब अपने पारिवारिक जीवन के आर्थिक स्तर और औचित्य की रक्षा के लिये उक्त गोपनीय योजना में व्यस्त थे, उन्हीं दिनों उनके न्यायालय में भ्रूण-हत्या का एक और मामला पुलिस ने लाकर पेश कर दिया। यह घटना निम्न मध्यम श्रेणी के मुहल्ले में हुई थी। पुलिस ने अभियुक्ता के विरुद्ध पर्याप्त सबूत अदालत में पेश कर दिये थे। सफाई के वकील की अनुपस्थिति में कोर्ट-इंस्पेक्टर अपराध को असंदिग्ध रूप से प्रमाणित करके अपराधिनी को ऐसा दंड दिये जाने का अनुरोध कर रहे थे जिस से समाज के अनाचारी लोगों को शिक्षा मिले।

अपराध के प्रमाणों के सम्बन्ध में शंका का अवसर कम ही था। पुलिस ने कूड़े के ढेर पर फेंका हुआ गर्भ पाया था। सुबह ही तहकीकात हो जाने के कारण उस ढेर से सड़क के कुछ हिस्से पर और फिर गली में एक कच्चे टूटे-फूटे मकान तक जाते हुये खून से लथपथ जनाना पांव के निशान पाये गये थे। इन निशानों को देखने वाले चश्मदीद गवाह मौजूद थे। पुलिस ने मुस्तैदी से उसी समय उस घर की तलाशी भी ले ली थी और खून से लथ-पथ धोती और दूसरे कपड़े भी कब्जे में कर लिये थे।

उस अपराधिनी की जमानत देने वाला भी कोई नहीं था। अपराधिनी ने रोने के सिवा कोई और बयान नहीं दिया लेकिन मुहल्ले के गवाहों के दस्तखती बयान मौजूद थे। उस ब्राह्मणी के दुश्चरित्र होने का कारण और प्रमाण भी गवाहों ने बताये। वह आठ-दस वर्ष पूर्व पन्द्रह-सोलह वर्ष की आयु में विधवा हो गयी थी और उसके चरित्र के विषय में सन्देह के कारण मुहल्ले में कई झगड़े हो चुके थे।

अपराध में सहयोग देने वाले एक मर्द के बिना ऐसा अपराध नहीं हो सकता था। उस अपराधी मर्द का पता लगाने का यत्न

पुलिस ने न किया हो सो बात नहीं। परन्तु मर्द ऐसा अपराध करने के बाद औरत की तरह अपराध की गठरी तो साथ लिये नहीं फिरता। और सभी अपराधी इतने निस्सहाय नहीं होते कि पुलिस के जाल को फाँद कर साफ न बच सकें।

घूंघट में मुंह छिपाये मैली धोती और चादर में शरीर को समेटे वह औरत सिर झुकाये अदालत के कठघरे में खड़ी थी। उसे दंड दिलाने के लिए पकड़ कर लाने वाले न्याय और कानून के रक्षक, पुलिस के सिपाही, अपराधिनी के भाग जाने की आशंका के उपाय के रूप में लाल पगड़ी और वर्दी पहिने चौकसी पर उस के पीछे खड़े थे। दूसरी ओर खड़े कोर्ट-इन्सपेक्टर समाज की नैतिकता और न्याय की रक्षा की दुहाई देकर अपराधिनी के लिये मुनासिब सजा का तकाजा कर रहे थे।

मुनासिब सजा डिप्टी साहब सदा से देते ही आये थे। उनकी प्रसिद्धि अपराध के प्रति अपेक्षा और दया दिखाने के लिये नहीं, कठोर दंड देने के लिये ही थी। दंड देने के लिये जो फैसला वे लिख देते, वह मानों अपराधी से व्यक्तिगत वैर के कारण ऐसा कि ऊंची अदालत में अपील होने पर रिहाई की गुंजाइश शायद ही कभी रह जाती हो। न्याय के प्रति उनकी इस निष्ठा के पुरस्कार में उनका रिकार्ड बहुत अच्छा समझा जाता था और प्रायः महत्वपूर्ण मामले उनकी ही अदालत में आते थे। पर उस दिन डिप्टी न्यायाधीश जब पथराई हुई आंखों से उस अपराधिनी की ओर देख रहे थे, उनकी स्मृति बार-बार चली जाती थी अपने घर की गोपनीय योजना की ओर। उनके मस्तिष्क में आशंका कौंध-कौंध जाती थी कि यदि किसी अप्रत्याशित कारण से बात खुल जाय तो······?

फटी चादर के घूंघट में छिपाये उस अपराधिनी के चेहरे पर डिप्टी न्यायाधीश कुछ वैसी ही घबराहट और चिंता की कल्पना दीख रही थी जैसी उन्होंने 'कुछ गड़बड़ी' की सूचना देते समय मिसेज दत्ता के आतुर चेहरे पर देखी थी। उन्हें याद आने लगा। परिणाम से बचने के उपाय जानते हुये, साधन होते हुये किसी एक क्षण में चूक हो जाने के कारण परिणाम का उनके सामने आ

खड़ा होना और उस अपराधिनी का उपायों से अजान साधनों से हीन और बेबस होना……और अपराधिनी की कुछ वैसी ही प्राकृतिक रूप से विकल अवस्था, जैसी अवस्था में उन्हें स्वयं भी उपाय कर लेने का धैर्य न रहा था !……यदि यह अपराधिनी सिविल-लाइन्स के किसी बंगले में रहकर एक अनुभवी और दक्ष लेडी डाक्टर की सेवा का व्यय १,१०० रु० दे सकती ?

डिप्टी न्यायाधीश सिर झुकाये थे। उनके हाथ में थमी कलम कोर्ट-इंस्पेक्टर की दलीलों को कागज पर लिखती जा रही थी परन्तु उनका मस्तिष्क तर्क कर रहा था:—"कानूनी न्याय की पकड़ से अपने आर्थिक स्तर और औचित्य की रक्षा करने का अधिकार व्यक्ति को है या नहीं ?…और इस उद्देश्य से किये गये अपराधों के कारण कितने अनिवार्य और स्वाभाविक हैं ! पन्द्रह-सोलह वर्ष की आयु में विधवा बना दी जाने वाली युवती के लिये समाज के अनुशासन को तोड़े बिना जीवन में संतोष का कोई अवसर कहां है ? समाज में कानून बनाने वाले और न्याय की रक्षा करने वाले नित्य अपनी वासना को पूर्ण करके भी सहस्र आंखों से इस युवती के, वासना पूर्ण करने के प्रयत्न के अपराध की खोज कर रहे थे। इस युवती को भय केवल खर्च का नहीं था…!

"इसके लिये पकड़ी जाने का परिणाम था भली स्त्री के सभी अधिकारों से वंचित हो जाना !…यह अपराध करना उसके लिये अनिवार्य था क्योंकि वह भली समझी जाने का आदर खोना नहीं चाहती थी।…अवसर न होने पर वह अपने को रोक न सकी ! यदि वह संतान देने वाले पुरुष के अभाव में एक संतान को गोद में लेकर समाज में खड़ी होना चाहती तो भी उसके लिये कहां स्थान था ? भ्रूण-हत्या न करने का भी दण्ड उसे समाज से बहिष्कार के रूप में वैसे ही मिलता, जैसे कि भ्रूण-हत्या करने का दंड समाज उसे देना चाहता है।"

डिप्टी साहब ने फैसले की तारीख तीन दिन बाद की दी। इस बीच उनके अपने घर की गोपनीय योजना सफलता पूर्वक पूर्ण हो चुकी थी। जब भी वे इस मामले का फैसला लिखने के लिये कलम उठाते, उनका मस्तिष्क बोल उठता :—"अवांछित संतान

के बोझ से आत्महत्या करना सामाजिक कर्तव्य है।... विधवा को गर्भ गिराने के लिये विवश वही लोग करते हैं जिन्होंने स्त्री के गर्भवती होने के प्राकृतिक अधिकार को विधवा से छीन लिया है। भ्रूण-हत्या के अपराध का दंड देना आवश्यक है उस न्याय व्यवस्था को, जो अवांछित गर्भ से मुक्ति पाने के कार्य को अपराध के रूप में करने के लिये विवश कर देती हैं...''। उन्हें क्रोध था पुलिस पर जो अपने प्राणों को जोखिम में डाल कर अपना सम्मान बचाने की चेष्टा करने वाली इस गरीब स्त्री को उनके सामने पकड़ कर लायी और उसे दण्ड दिये जाने का आग्रह कर रही थी। उन्हें इस स्त्री का अपराध यह जान पड़ता था कि वह सुशिक्षित लोगों की तरह गर्भ से बचने के रहस्यों को नहीं जानती थी और चूक हो जाने पर परिणाम से बचने के लिये उसके पास १,१०० रुपये नहीं थे। वह स्त्री उन्हें उस कातर बछिया की भांति जान पड़ती थी जो कसाई की छुरी से बचने के लिये भाग निकली हो और पुलिस उस आदमी की तरह जो उस बछिया को घेर कर फिर कसाई के सामने ले आया हो; परन्तु समाज की मान्यताओं के विरुद्ध ऐसी बातें अदालत के फैसले में नहीं लिखी जा सकती थीं।

फैसले की तारीख के दिन अपराधिनी को फिर डिप्टी साहब के सामने पेश किया गया। उसकी ओर देखे बिना ही सिर झुका कर (मानों उसकी ओर देखने में उन्हें संकोच अनुभव हो रहा हो) हुक्म दिया :—"तुमको बरी किया।" कोर्ट-इन्सपेक्टर की ओर दृष्टि जाते ही उनके माथे पर बल पड़ गये। मुख से कुछ कहे बिना मामले का लिखा हुआ फैसला उन्हों ने उस की ओर फेंक दिया। पुलिस और कोर्ट-इन्सपेक्टर इस औरत को बरी होते देख दांतों तले उंगली दबाये रह गये।

अभियुक्त को बरी कर देने का कारण डिप्टी साहब ने फैसले में लिखा था:—"सुबूत की कमी"। पुलिस की धांधली की चर्चा करते हुये उन्होंने लिखा था:—"काल्पनिक प्रमाणों के आधार पर किसी असहाय स्त्री पर घृणित अपराध का आरोप कर देना पुलिस के लिये प्रशंसा योग्य नहीं। यदि पुलिस को अभियुक्त के अपराधिनी होने का विश्वास था तो अदालत को कोई कारण इस बात का नहीं

दिखाई देता कि इसे हिरासत में लेने के बाद इसका डाक्टरी मुआइना तुरन्त करा कर सार्टिफिकेट क्यों नहीं लिया गया ? पुलिस ने कूड़े के ढेर पर फेंका गया गर्भ मिलने की जगह से स्त्री के घर तक पाये गये खून से लथपथ पांव के चिह्नों को तो इस स्त्री के अपराध का प्रमाण मान लिया, परन्तु अदालत के सम्मुख इस बात का कोई प्रमाण नही दिया कि गली में खून से लथपथ पांव के चिह्नों और इस स्त्री के पांवों में क्या समता थी ? इस स्त्री के घर में खून से लथपथ कपड़ों का पाया जाना इस बात का निर्विवाद प्रमाण नहीं मान लिया जा सकता कि वे कपड़े इसी स्त्री की सम्पत्ति थे। उस बड़े और कच्चे मकान की कोठरियों में ऐसे कई गरीब परिवार रहते हैं। पुलिस ने यह बात भी स्पष्ट नहीं की है कि उस मकान से बाहर जाने का कोई और दरवाजा नहीं है । यदि पुलिस ने अपराध की खोज करने में मुस्तैदी दिखायी होती तो इस अपराध के सहयोगी मर्द का पता लगाने में भी विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिये थी। स्त्री के चरित्र के सम्बन्ध में सुनिश्चित प्रमाण दिये बिना उस पर लांछन लगाना, इस बात का संदेह पैदा करता है कि मुहल्ले के कुछ दुश्चरित्र लोगों की नज़र इस युवा स्त्री पर रही होगी। अपने प्रयत्नों में असफल रहने के कारण ऐसे ही लोगों ने इस गरीब स्त्री के विरुद्ध किसी दूसरे के अपराध का आरोप किया है और वास्तविक अपराधी कानून की पकड़ के बाहर चैन कर रहा है।"

अपनी उस गोपनीय परिस्थिति में इस घटना का प्रभाव डिप्टी न्यायधीश साहब के मस्तिष्क पर कुछ ऐसा पड़ा कि पुलिस द्वारा पेश किये गये मामलों में उन्हें प्रायः ही पुलिस की ज्यादती दिखायी देने लगी। अपराधों के सम्बन्ध में उनकी धारणा ने कुछ दूसरा ही रूप ले लिया, जिसका अर्थ था जीवन की भूख और मांग के लिये अवसरहीन, साधनहीन लोगों का प्रयत्न ! उन्हें जान पड़ने लगा कि समाज का अनुशासन और कानून केवल साधनहीन और अवसरहीन लोगों को संतोष पाने के प्रयत्न से विवश रखने के लिये ही है और पुलिस है समाज के इस अनुशासन का क्रूर और तर्कहीन हथियार मात्र। डिप्टी साहब की यह

मनोवृत्ति बढ़ती ही गयी, यहाँ तक कि १६४२-४३ में जब पुलिस और सब अपराधों की उपेक्षा कर अदालतों में केवल राजनीतिक विद्रोह के अपराधियों को ही घसीटे ला रही थी उस समय भी डिप्टी साहब को इन अपराधियों के काम जीवन के अवसर की मांग और पुलिस की हरकतें इस मांग का क्रूर दमन ही जान पड़ रही थीं। डिप्टी न्यायाधीश आंख मंद कर अन्याय का समर्थन करने के लिये तैयार नहीं हो सके।

१६४४ में डिप्टी साहब के 'एफिशियंसी बार' लांघ कर न्यायाधीश के पद के दायरे में कदम रखने का समय आया। जीवन के ऊंचे स्तर में कदम रखने की प्रतीक्षा वे उमंग से कर रहे थे और डाक में प्रतिदिन 'प्रोमोशन' (उन्नति) का आर्डर खोज रहे थे। तब एक दिन उनके भाग्य का निपटारा करने वाला सरकारी आज्ञा पत्र आया। इस पत्र का आशय था—गत वर्षों में उनका व्यवहार शासन के काम में सहयोग की अपेक्षा अड़चन डालने का ही रहा है, अतः अगले ग्रेड में उनकी उन्नति के प्रश्न पर अभी कोई विचार नहीं किया जा सकता। आर्डर पढ़ कर डिप्टी साहब को ऐसा जान पड़ा कि उनकी कुर्सी के नीचे धरती फट गयी है और वे उसमें समाये जा रहे हैं और फिर क्रोध से उनका माथा तमतमा उठा—"यह है न्याय!"

मन जरा ठिकाने आने पर वे शासन के प्रबंध में अपनी आयोग्यता की बात सोचने लगे:—शासन का अर्थ क्या यही नहीं कि समाज में जिन लोगों के पास जीवन के साधन हैं, उनके लिये जीवन के अवसर की रक्षा की जाय और जो लोग जीवन के साधन और अवसर न होते हुये भी जीवन में भूख अनुभव करते हैं और संतोष पाना चाहते हैं उन्हें संतोष पाने वालों की परिधि के भीतर घुसने से रोका जाय? पुलिस इसी परिधि की पहरेदार है। न्यायाधीश का काम है इन पहरेदारों के काम पर औचित्य की मुहर लगाना। समाज में मनुष्य को उचित और अनुचित सभी कुछ करने का अधिकार है यदि उसके पास पर्याप्त साधन हों। शासक और न्यायाधीश इसी बात का वेतन पाता है कि वह साधन सम्पन्नों के अधिकारों पर औचित्य की और साधन

हीनों के प्रयत्नों पर अपराध की मुहर लगाये। साधन सम्पन्नों से वेतन पाकर साधनहीनों के प्रति सहानुभूति दिखाना, शासन के धर्म के प्रति अयोग्यता और गद्दारी नहीं तो क्या है? जो न्यायाधीश और शासक आँख मूंद कर शासन के इस धर्म के प्रति भक्ति दिखाने के लिये तैयार नहीं, वह सफल और योग्य शासक और न्यायाधीश कैसे हो सकता है? साधन सम्पन्नों से रोटी पाकर साधनहीनों से सहानुभूति दिखाना क्या धर्म है?

८

जीत की हार

"वकालत के काम में न्याय, अन्याय से उतना मतलब नहीं रहता जितना कि कानूनी पैंतरे द्वारा हार-जीत से!" वकील साहब विश्राम के लिये कुर्सी पर पसरते हुए बोले—"परन्तु जब मुकद्दमा जीत लेने पर मन हार मान जाये, गर्दन अपनी आँखों में ही झुक जाती है। इच्छा होती है कि पायी हुई फीस को ठोकर मार कर रौंद दें।"—वकील साहब ने गर्दन को कुर्सी की पीठ पीछे झटकाया मानों ग्लानि से झुक गयी गर्दन सीधी करने के लिए मस्तिष्क पर लदे बोझ को गिरा देना चाहते हैं। फिर मेज पर कोहनी का सहारा ले, हथेली पर कनपटी टिका सुनाने लगे। अदालती अन्दाज़ में कही गयी पूरी बात का मतलब था:—

वह लड़का, लड़का क्या अच्छा खासा नौजवान—और फिर अठारह-बीस बरस का आदमी लड़का ही तो होता है—तिलोक-सिंह 'बडोरी' के हाईस्कूल में पढ़ रहा था, मैट्रिक में। बडोरी अलमोड़ा जिले में बागेश्वर से आगे 'बेरीनाग' की सड़क पर छोटी सी बस्ती है, पर हाईस्कूल भी है। सड़क के दोनों ओर प्रायः आमने-सामने दस-पन्द्रह दुकानें हैं। पहाड़ी ढंग की दुकानें, छतें ढालू होने के कारण काठ की पड़छत्ती डाल लेने से ऊपर एक मंजिल, रहने के लिए आप ही निकल आती है, दुकानों के ऊपर और पिछवाड़े कोठड़ों में दुकानदार का घर हो जाता है। दो-तीन बजाजों की दुकानें, तीन-चार परचून, नमक, तेल, तम्बाकू की, जिनमें किसानों के हल के लिये लोहे से लेकर दवा दारू तक मिल सकती है, दो-तीन बिसाती की, तीन-चार दर्जी, मोची और लुहार-उहार की। चाय और मिठाई-नमकीन की दुकानें तो पहाड़ों

में सड़क किनारे प्रायः रहती ही हैं। दो-ढाई बरस से पांच-सात पंजाबी शरणार्थी आ बसे हैं तो कुछ रंग-रौनक बढ़ गयी है। कभी-कभी ग्रामोफोन के रिकार्डों और बैट्री के रेडियो से हरी पहड़ियों पर स्वच्छ नीले आकाश के नीचे खड़े चीड़ के वृक्ष भी "लारी लप्पा......" और "लाल दुपट्टा मलमल का..." की तानें भी सुन पाते हैं।

अलमोड़ा के देहात में मुसलमानों की संख्या रुपये में पैसा भर भी नहीं। जो हैं, प्रायः दर्जी, मिस्त्री, धुनखे और नगारची का काम करते हैं और ऐसी छोटी-छोटी बस्तियों के बाजारों में सिमटे रहते हैं। ब्राह्मण, राजपूत जैसे शिल्पकारों (अछूतों) के हाथ का पानी नहीं पीते; वैसा ही परहेज इन लोगों से भी है; बल्कि कुछ कम ही समझिये क्योंकि उठना-बैठना तो बराबरी का है। ये कसम भी खाते हैं तो देवी-देवता की। न बुर्का-पर्दा, न कोई रिवाज का दूसरा भेद! कभी-कभात कोई औरत धोती की जगह सुथना पहन ले तो पहचान हो जाती है।

पहाड़ में देश के व्यवसायिक नगरों की सी समृद्धि नहीं है परन्तु पूरब के देहातों जैसी गरीबी भी नहीं। निराशा से लोगों का मन मर नहीं गया है। पढ़ने और उन्नति का साहस अभी बाकी है। 'बडोरी' के हाईस्कूल में बहुत से लड़के आटा-चावल घर से बांध लाते हैं और अपना रोटी-भात अपने हाथों कर लेते हैं। जो अच्छे खाते-पीते घर के हैं, बोर्डिंग में रहते हैं। तिलोकसिंह 'बारिया' के थोकदार (नम्बरदार) का एकलौता लड़का है और घर का अच्छा पोढ़ा। वह बोर्डिंग में ही रहता था।

स्कूल और बोर्डिंग तो बस्ती से कुछ हटकर हैं परन्तु लड़के शाम के समय चाय-सिगरेट के लिए इन दुकानों पर उठ-बैठ, सड़क पर से गुजरते मुसाफिरों को देख या दुकानों के ऊपर गृहस्थी की खिड़कियों में ताक-झांक की चुहल कर दिल बहला लेते हैं। मोतीराम के रेडियो पर गाना और खबरें भी सुनते हैं। तिलोकसिंह एक तो थोकदार का लड़का दूसरे इस उम्र में हाथ-पांव चलने को यों ही बेचैन रहते हैं। वह प्रायः तीन-चार साथियों से घिरा कलगीदार मुर्गे की तरह गर्दन उठाये, इधर-

उधर झांकता चलता था। उसके चाय पीने पर साथी भी पीते। वह सिगरेट की डिबिया खरीदता तो उसी समय बांट कर खाली डिबिया को फुटबाल की तरह ठोकर से उछाल देता। उसके साथी खुशामद करते—"थोकदार जिस लौंडियां पर नज़र डाल दे, बच के नहीं जा सकती।" तिलोकसिंह दोनों हाथों से कमर पर ज़ोर दे, गर्दन टेढ़ी कर, आंखों की पुतलियां दायें कोनों में और सिगरेट को होटों के बायें कोने में थाम उत्तर देताः—"हां तो फिर क्या कहते हो?...दबाव है किसी का?"

दर्जी बशीर की बुढ़ापे की शादी की एकमात्र लड़की 'नाजू' उम्र का आ रही थी। रंग गोरा और आंखें बड़ी-बड़ी। 'मंडुए' की काली रोटी, 'सिशौंण' (बिच्छू बूटी) का साग और मोटा लाल चावल खा कर भी जाने कैसे उसके शरीर पर पकी खुमानी की ललाई और दूध की चिकनाई छाये जा रही थी। छरहरा शरीर अभी पूरा नहीं गदराया था पर छातियों पर उभार आ गया था, इतना कि दौड़ने-भागने में संकोच होने लगा। बचपन में बस्ती के जिन लौंडों के साथ झोंटा खोले खेलती फिरती थी और जिन लोगों की गोद में बड़ी हुई थी अब उन्हीं से शरमाने लगी। बशीर और नज्मा की मां दोनो ही लड़की के बरसाती में, कद्दू की सहसा लपक जाने वाली बेल की तरह बढ़ जाने से चिन्तित थे। लड़की मां से भी दो उंगल ऊंचा सिर उठा रही थी। बशीर को गरुड़, बेरीनाग, बागेश्वर, सोमेश्वर या अलमोड़ा जाने का कोई मौका मिलता तो वह लड़की के लिये लड़का ढूंढ़ पाता परन्तु फ़ुर्सत ही नहीं मिल रही थी। लड़की का निकाह करा देने के लिये दो-चार कपड़े, बर्तन भांड़े की भी ज़रूरत थी ही। अभी मशीन के दामों का कर्ज भी पूरा नहीं हो पाया था। गल्ला रुपये का डेढ़-दो सेर मुश्किल से मिल रहा था। एक दिन की भी मजूरी छोड़ दे तो खाये क्या? सिलाई के दाम बढ़ाने को कोई तैयार नहीं था। बशीर, नाजू की मां और नाजू सभी मिल कर काम करते थे, तब कहीं कुछ बन पाता था। बशीर कपड़े काट-काट कर दे देता। पीछे की कोठरी में बैठी मां, बेटी कच्चा कर देतीं या काज-बटन लगाती रहतीं। बशीर मशीन चलाता रहता।

नाजू के कारण स्कूल के लौंडे मसूद और लक्खीराम की दुकानें छोड़ सिलाई के लिये बशीर के यहां ही घिरने लगे। बशीर मियां को अपने कौशल पर अभिमान होने लगा। वह इसे 'अल्ला' की बर्कत समझ जी-जान से मेहनत करने लगे। लेकिन नाजू खूब समझती थी। मन में गुदगुदी भी उठती और कभी लौंडे ज्यादा बेशर्मी से घूरने लगते, पिछवाड़े के जंगल से ईंधन लाते या इधर-उधर भटक गई मुर्गियों को ढूढ़ते और 'गूल' से पानी का घड़ा लाते समय बोली-ठोली से इशारेबाजी करने लगते तो झुंझलाहट भी उठती। यहां तक कि कभी कभी सम्मान रक्षा के लिये गाली दे देने, पत्थर मारने या बाप से शिकायत कर देने की धमकी भी देनी पड़ जाती।

तिलोकसिंह इसी चक्कर में दो तीन कमीज, पाजामे और एक कोट बशीर से सिला चुका था। वह कोट की बांहों या कालर का ऐब ठीक कराने के बहाने बार-बार दुकान पर जा पहुँचता। कभी अंडा खरीदने के बहाने पिछवाड़े से पुकार लगा देता। नाजू भी समझती थी। यों तिलोकसिंह उसे भी अच्छा लगता, उसकी इज्जत थी। पर वह खिझाने के लिये या तो छिप जाती या आंखें नीची कर लेती। तिलोकसिंह और दूसरे कई लौंडों के नाम वह जान गयी थी या लौंडों ने ही उसके सामने एक दूसरे को पुकार-पुकार कर अपने नाम सुना दिये थे।

एतवार के दिन तिलोकसिंह तीन-चार लड़कों को लिये सुबह ही चाय पीने दुकानों पर गया था। नाजू सड़क पार लक्खीसाह के यहां से बड़ी सी हांड़ी में छाछ लिये, दोनों हाथों से सम्भाले सड़क पर लौट रही थी। तिलोकसिंह ने कनखियों से उसकी ओर देख कर कहा—"...छाछ के लिये इतनी तकलीफ; कहो दूध से नहला दें...?"

"अपनी ईजा (मां) को नहला।"—क्रोध में पीछे घूम नाजू ने अंगूठा दिखा कर उत्तर दिया और अपनी दुकान में जा घुसी।

साथियों के सामने तिलोकसिंह की हेठी हो गयी। वह कंधे ऐंठा, हाथ में न आ सकने योग्य मूंछों को सहला कर अपने साथियों को सुनाते हुए बोला—"अच्छा हरामजादी को देखूंगा।..."

तिलोकसिंह अवसर की खोज में रहने लगा। उसे मालूम था कि तीसरे पहर कभी नाजू और कभी उसकी माँ बाजार के पिछवाड़े के जंगल में ईंधन के लिए जाती हैं। लेकिन स्त्रियां अकेली नहीं प्रायः दो-दो, चार-चार साथ जाती हैं। वह प्रतीक्षा में ऊबता जा रहा था। एक दिन टेकरी पर बने स्कूल में पढ़ाई के समय उस ने खिड़की से देखा कि नाजू की मां दो पड़ोसनों के साथ ईंधन के लिये जंगल की ओर जा रही है। तिलोकसिंह स्कूल से उठ आया और बाजार की बस्ती के पिछवाड़े साग-सब्जी उगाने के लिए बनाये छोटे-छोटे खेतों की बाड़ों के पीछे दुबकता हुआ बशीर की दुकान के पिछवाड़े के दरवाजे पर जा पहुंचा। नाजू की मां आंगन का दरवाजा उड़क गयी थी। हाथ के दबाव से खुल गया। नाजू पिछवाड़े की कोठड़ी में, रोशनी के लिए आंगन की ओर के दरवाजे में बैठी, सिर झुकाये गुन-गुनाती हुई कपड़ों में काज बना रही थी। दुकान से बशीर की मशीन की घरघराहट सुनायी दे रही थी परन्तु दरवाजे आमने-सामने न होने के कारण दुकान ओझल थी।

तिलोकसिंह पंजों के बल आंगन पार कर गया। परछाईं पड़ने पर नाजू ने आँखें उठाकर देखा; चेहरा फक···! तिलोकसिंह पंजों के बल उसके सामने बैठ दबे स्वर में बोला "अब बोल !······और दिखा अंगूठा।"

नाजू ने एक सांस खींचा और पीछे सरकते हुए, धीमे स्वर में धमकाया—"बाप को पुकारती हूँ।"

"पुकार"—ढिठाई से तिलोकसिंह ने उत्तर दिया—"कहूंगा, इसी ने पिछवाड़े से पुकारा था—'आ आ, ईजा नहीं है।"

"तेरे पांव पड़ती हूँ, यहाँ से जा"—नाजू हाथ जोड़ गिड़गिड़ाई।

"क्यों !······और सब से तो हंसती, बोलती है। हमने कौन मरा कुत्ता घसीटा है ?···हम तो तेरे लिए हथेली पर जान लिए फिरते हैं।" तिलोकसिंह ने मुस्कराकर नाजू की कलाई पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाया।

"झूठ"—पीछे सरक नाजू ने विरोध किया,—"मैं कब किससे हंसी, बोली ?"

"उस दिन गाली क्यों दी थी ?"

"हाय तो तू सब के सामने..."—वह चुप रह गयी।

"अच्छा तो हमारी तेरी रही"—तिलोक ने उसकी आंखों में देखा।

"तेरे पांव पड़ती हूं, यहां से जा"—सिमिटते हुए नाजू फिर गिड़गड़ाई—"बाप सुन लेगा, कोई आ जायेगा !"

"अच्छा तो फिर बाहर मिलना। कल दिये जले बाद आना खड्ड में, भूतवाले पीपल के नीचे।"

"हाय अब जा"—नाजू ने फिर हाथ जोड़े।

"अभी जा"—नाजू ने पीछे सरकते हुए दोहराया। तिलोक सिंह का शरीर सनसना रहा था—"अच्छा तो कौल कर। हाथ मिला।"

नाजू ने डरते डरते हाथ बढ़ा दिया। तिलोक ने उसे हाथ से खींच लिया और उस के सिर पीछे हटाते-हटाते उस पर झुक अपने होंठों से उसके होंठों को रगड़ कर फुसफुसाया—"अब तू हमारी हो गयी, याद रहे !"—और पंजों के बल बाहर निकल गया।

तिलोकसिंह चला गया तो नाजू की जान में जान आयी, कंप-कपी बंद हुई। निर्भय होने के लिये उठकर आंगन के किवाड़ों में उड़का लगा दिया। सोचने लगी—हाय, यह क्या हो गया ? कपड़ा और सुई अब भी हाथ में ही थे परन्तु आंखें तर हो जाने और सिर घूम जाने के कारण कुछ दिखायी नहीं पड़ रहा था। होंठों पर अब भी हल्की-हल्की मिर्चें सी लग रही थीं।—हाय, कोई देख लेता तो......

"बेटी काज बन गए तो दे जा !"—उसने सुना और सूखे गले से घूंट भर उत्तर दिया—"कर रही हूं अब्बा !" कह तो दिया पर कर नहीं पा रही थी। बड़ी कठिनाई से काज समाप्त कर बाप के पास ले गयी और बोली—"सिर में बड़े जोर का दरद हो रहा है अब्बा। आँख नहीं टिक पा रही इस दफे।"

वह खाट पर जा लेटी और आँखें मूंद सोचने लगी—'हाय, कोई देख लेता तो···!' फिर ख्याल आया—दूसरे लौंडे तो टुच्चे हैं। इसका कलेजा तो है। उसे जान पड़ा—अब उसकी अपनी एक बात है, जिसे कोई नहीं जानता। कानों में बारबार गूंज रहा था—"हम तो तेरे लिये जान हथेली पर लिए फिरते हैं!" वह अपने होठों पर जीभ लगा:कर उन्हें चखने लगी और स्वयं ही शर्मा गयी। याद आया—'अब तू हमारी हो गयी, याद रहे!"

नाजू बाप और मां की आँखों से कतरा रही थी जैसे वे उसकी उभरी-उभरी छातियों के नीचे छिपी बात भांप लेंगे। उस रात मां की बगल लेटी तो उसे मां और अपने बीच एक खड्ड सी बहती जान पड़ रही थी, जैसे उसका अपना जीवन अब अलग बन गया हो। मन चाहता था, कहीं अलग सोये। मां से क्यों चिपटी रहे? बड़ी भारी चिन्ता तो थी कि कल का वायदा कैसे पूरेगी? भूत वाले पीपल के नीचे डर के मारे कोई आयगा नहीं···अगर भूत, ही आ जाय?···हाय, क्यों आयगा भूत? शाम को थोड़ी देर के लिये टलने के उसने कई बहाने सोच डाले।

अगले दिन मां शाम से ही उबैदुल्ला बजाज के यहां गई हुई थी। उबैद की बहू के बाल-बच्चा हुआ था। बशीर मियां सूरज छिप जाने पर आंखों से मजबूर, काम नहीं कर पाते थे। इसलिये दुअन्नी भर अफीम खाकर अल्ला को याद करते औंघाते रहते। उस समय चाहते थे, उन्हें कोई न पुकारे। अंधेरा घना हुआ तो नाजू ने आंचल दांत तले दबाया और खड्ड की ओर चल दी।

तिलोकसिंह बहुत उतावला हो रहा था। कभी नाजू को बाहों में दबाना चाहता कभी उसे गोद में ले लेना चाहता। इधर-उधर हाथ चला रहा था। नाजू लड़खड़ाते हाथों से उसे बरज रही थी—"लोगों को पता चला जायगा तो मेरा मूंड़ काट लेंगे।"

"कैसे पता चल जायगा?"

"कुछ हो गया तो?"—उसने अंधेरे में तिलोकसिंह से आंखें मिलाते हुए पूछा।

"क्या कहती है"—उसे कंधों से थाम सामने कर तिलोकसिंह

ने उत्तर किया—"तुझे कोई कुछ कहेगा तो पहले मेरा मूंड़ गिरेगा …मैं तुझे देस ले जाऊंगा। यहां क्या रखा है!"

"सच कहता है?"—नाजू की आंखें चमक उठीं।

"नहीं तो क्या?"

"देओ की कसम?"

"देओ की कसम!…तू मुझे नहीं चाहती?"

"चाहती नहीं तो क्या?"—नाजू उसके कंधे पर लुढ़कती हुई बोली—"मुझे देस ले चल।"

इसके बाद तिलोकसिंह लौंडों के साथ रहने पर नाजू से ताक झांक न करता। अकेला सामने चाय की दुकान पर आकर बैठता तो ऊपर खिड़की में बैठी नाजू से आंखें मिलाता रहता। नाजू प्यार का इशारा कर मुस्करा भी देती। नाजू अंधेरा होने पर उबैदुल्ला के यहां से कोई चीज ले, देकर लौटती तो बहुत धीमे-धीमे, ठमकती हुई कि बाजार में कोई है या नहीं, है तो कौन?

तिलोकसिंह भी समझ गया था। एक दिन ऐसे पास से गुजरते-गुजरते बात हुई। तिलोकसिंह ने कहा—"आज खड्ड में आ।"

"आज नहीं, फिर"—नज्मा धीमे से कह गयी।

दूसरी बार भी ऐसा ही हुआ। तिलोकसिंह को जान पड़ा धोखा दे रही है। अच्छा!—उसने सोचा।

महीना भी नहीं बीता था कि…

× × ×

चौथा पहर ढल रहा था। लड़के स्कूल से बोर्डिंग में लौट कर आराम या हंसी मजाक कर रहे थे। बच्चीसिंह ताश की गड्डी फरफराता हुआ कुन्दन और प्यारे को साथ लिये तिलोकसिंह को खेल की चुनौती दे रहा था।

"साले, पहले हारा हुआ चुक ले तो खेल का नाम लेना! चूतड़ों में गूं नहीं, कौओं को न्योता दे रहे हैं।"—तिलोकसिंह ने बच्चीसिंह की चुनौती का उत्तर दिया ही था कि सबका ध्यान गया

टेकरी पर बोर्डिंग की ओर तेजी से चढ़ते हुए शरणार्थी बजाज मोतीराम और नन्दलाल की ओर।

मोतीराम हाथ में अखबार लिये था और समीप आकर क्रोध और उत्तेजना से गाली देकर पुकार उठा—"डूब मरो हिन्दुओ, पंजाब में इतना कुछ हो गया तुम लोगों की......में खाज भी नहीं हुई। सालो, डूब मरो ! और हौंसले बढ़ाओ इन......मुसलों के। और क्या चाहिये ? तुम्हारे पड़ोस बागेश्वर में ही उस हरामी मादर···कादिर ने ब्राह्मणी को खराब कर दिया। बंगाल में रोज हजारों हिन्दू कट रहे हैं। देख लो यह अखबार। तुम इन मादर···सांपों को खूब दूध पिलाकर पालो और यह तुम्हारी बहू-बेटियों को खराब करें। देखते क्या हो, पंजाब और बंगाल से निकाले गये, अभी यहां से भी ये लोग तुम्हारे चूतड़ों पर लात मार कर तुम्हें निकालेंगे। तुम कान में तेल डाले पड़े रहो···"

सब लड़के सिमिट आये। प्यारे अखबार मोतीराम के हाथ से लेकर सबको सुनाने लगा—ढाका से हजारों हिन्दू हाय-हाय करते पश्चिम बंगाल की ओर आ रहे हैं। उनका सब माल-मता और जवान लड़कियाँ और स्त्रियां छीन ली गयीं। जवान लड़कियों के साथ दस-दस आदमियों के बलात्कार करने और बूढ़ियों के स्तन काट लेने और नीचे से लेकर ऊपर तक पेट फाड़ देने की खबरें थीं।

नन्दलाल ने आंखों से चिनगारियां बरसाते हुए बताया कि पंजाब के गुजरात और वजीराबाद में हिन्दुओं के हाथ-पांव बांध-कर उनके सामने उनकी स्त्रियों पर बलात्कार किया गया। उस समय किसी बहन···मां के लाल ने ठीक से बदला ले लिया होता तो आज यह फिर क्यों होता ? लेकिन हिन्दुओं की तो कौम ही ......बुजदिल हैं। यह साले कल मरते हों तो इनका आज मर जाना अच्छा······

"बहन···ठाकुरों, राजपूतों के लौंडे हो !"—मोतीराम ने घृणा के स्वर में ललकारा—"मर जाओ डूबकर अपने ही पेशाब में ! हम लोगों ने पंजाब में एक मुसले को नहीं छोड़ा। हमारी तो यह कांग्रेसी सरकार दुश्मन है। यह हमें न रोक लेती तो पेशावर तक

बहन······मुसलमानों का तुखम मिटा देते ! तुम यहां घांघरिया और चूड़ियां पहन लो ! पाकिस्तान में हिन्दू नहीं रह सकता तो हिन्दुस्तान में मुसल्टे क्यों रहें ? वो बहन···अपने यहां हिन्दू को दुश्मन मानकर मिटाये दे रहे हैं और तुम इन सांपों को आस्तीन में रखकर पुचकारो ! होने तो लगा अब तुम्हारे भी घर में ! हो तो गया बागेश्वर में, देख लो न जा कर ? जब तक एक-एक हिन्दू की जान और हिन्दू औरत की इज्जत का बदला नहीं लोगे तुम्हारा बीजनाश हो जायेगा। देखते क्या हो ? क्यों थोकदार !" उसने तिलोकसिंह को ललकारा और फिर बच्चीसिंह की ओर देखा—"क्यों ठाकुर ?"

"इन बहन······मुशलों की मां·········!" बच्चीसिंह ने ताश की गड्डी फर्श पर पटक दी और अपनी खाट के पास कोने में रखी लाठी की ओर लपका। सभी लड़के आपे से बाहर हो गये। तिलोकसिंह ने भी एक डंडा उठा लिया। जिसके हाथ जो आया लेकर सब लड़के मोतीराम और नन्दलाल के साथ टेकरी से ऐसे दौड़ते हुए उतरे जैसे पत्थरों का ढेर ढलवान पर से लुढ़क पड़ा हो।

बाजार में पहुँच उन लोगों के हाथ में खुखरी, बल्लम, तलवारें और छुरे भी आ गये। बाजार के हिन्दुओं में ढाका और बागेश्वर की अफवाह से पहले ही उत्तेजना फैली हुई थी। उनके साथ क्रोध से उन्मत्त बीस-पच्चीस हिन्दू और भी हो गये। नारे लगने लगे— "मारो साले······!" मुशलों को। सबसे पहले उबेदुल्ला बजाज की दुकान और घर था। जाते ही बच्चीसिंह ने एक बल्लम उसकी पसलियों से पार कर दिया। तिलोकसिंह भी डंडा फेंक किसी के हाथ से तलवार ले चुका था। उसने चिल्लाकर भागते उबेद के जवान लड़के अकबर के पेट में तलवार भोंक दी–मारो साले मादर मुसलों को शोर मच गया।

भीड़ उबेद के घर के भीतर धंस गयी। पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान में हिन्दू स्त्रियों के साथ किये गये बलात्कार और वीभत्स अत्याचार के वर्णन उत्तेजित भीड़ की कल्पना को पागल किये हुए थे। वे अपनी जातीय मां-बहनों पर किये गये अत्या-

चार की पाई-पाई चुका देने पर तुले हुए थे। पाकिस्तान के वर्णनों के अनुसार उबेद की जवान बहू और लड़की को नंगा कर दिया गया और उनके अंगों के साथ याद कर के वही व्यवहार किया गया जो कई मुसलमानों ने हिन्दू स्त्रियों से किया था। उबेद की घरवाली की छाती पर भय से चिपटे पोते की पीठ को छेदता हुआ बल्लम दादी की पीठ के पीछे निकल गया। मरी हुई बुढ़िया के स्तन काटकर हिन्दू स्त्रियों के स्तन काटे जाने का हिसाब बकाया कर दिया गया। पाकिस्तान में मुसलमानों ने अत्याचार किये। हिन्दुस्तान में हिन्दुओं ने बदला लिया। मारी गयी दोनों जगह बेबस औरतें...

उबेद बाजार और पास-पड़ोस में सैकड़ों आदमियों के काम आया था। वह किसी का शत्रु नहीं था, कोई उसका शत्रु नहीं था। परन्तु यहाँ आदमी और आदमी की शत्रुता-मित्रता का सवाल ही नहीं था। यह जाति का मामला था, जिसमें आदमी खो जाता है। व्यक्तिगत रूप से कोई नहीं सोचता। सामूहिक झोंक सब को निसंकोच और निर्भय बना देती है। व्यक्ति का विवेक दीपक की लौ की तरह होता है और भीड़ की उत्तेजना बड़वानल की तरह। व्यक्तिगत उत्तरदायित्व और लिहाज उस आग में जल जाते हैं। उबेद का परिवार समाप्त हो गया परन्तु भीड़ की प्रतिहिंसा तृप्त न हुई। उनके मन में तो लाखों परिवारों के विनाश की जलन थी। एक परिवार को भस्म कर भीड़ की बड़वानल की लपटें और प्रबल हो उठीं, जैसे आग में तेल पड़ गया हो! भीड़ अधिक उत्तेजना में प्रतिकार के लिये विनाश के नारे लगाती आगे बढ़ी।

बिसाती रसूले और दर्जी बशीर की दुकानें साथ-साथ थीं। उबेद की दुकान से इन्होंने हल्ला सुना था परन्तु बात नहीं समझ पाये थे। समझा था, दिहात के जाहिल आपस में भिड़ गये हैं। हिन्दू-मुसलमान का झगड़ा तो यहाँ कभी किसी ने सुना ही नहीं था। भीड़ को "मारो मुशलों को" चिल्लाते हुए और खून से लथपथ बल्लम और तलवारें लिए अपनी दुकान की ओर बढ़ते देख बशीर हड़बड़ाकर मशीन से उठा और दुकान के किवाड़ बन्द करने का यत्न करने लगा। तिलोकसिंह ने लपटकर बन्द होते किवाड़ों के बीच से तलवार उसके शरीर में भोंक दी।

बशीर 'हा' मार कर गिर पड़ा। किवाड़ बन्द नहीं हो पाये। भीड़ किवाड़ धकेल बशीर को रौंदती हुई भीतर घुस गई। सामने दिखायी दी हाय-हाय करती बशीर की प्रौढ़ा घरवाली। लोगों ने उसे घेर लिया और उसकी भी अक्षरशः किसी क्रूरता का बदला भूल न जाने का ध्यान रखते हुए वही अवस्था की जाने की तैयारी होने लगी जो पाकिस्तान और पूर्वी पंजाब में (भगवान का राज) और "हिन्दू राज" कायम करने का दावा करने वालों ने सिखायी है।

"हरामजादी······लौंडिया कहाँ है ?"—किसी ने पुकारा और कुछ लोग नाजू को ढूंढ़ने ऊपर की पड़छत्ती पर पहुँचे। तिलोकसिंह ऊपर न जा पिछवाड़े के आंगन में गया। आंगन के खुले दरवाजे से उसे दिखायी दिया कि नाजू खेतों की बाड़ों के पीछे से सिर पर पाँव रखे जंगल की ओर भागी जा रही है। वह उसके पीछे भागा।

भीड़ ने ऊपर छत का कोना-कोना छान डाला और समझा कि लौंडिया साथ के बिसाती रसूले के यहाँ जा छिपी है। नाजू को रसूले के परिवार के साथ ही समाप्त कर देने के लिए भीड़ उस ओर झुक गयी। इतनी देर में तिलोकसिंह और नाजू पेड़ों से छायी एक टेकरी के पीछे ओझल हो चुके थे।

नाजू पीछा किया जाने की आहट पा और भी जोर से दौड़ी परन्तु औरत, औरत है और मर्द, मर्द! तिलोकसिंह उससे कुछ ही कदम रह गया था कि स्वयं भी हांफ जाने के कारण उसने जोर से डपटा—"ठहर!"

नाजू के पांव भय से लड़खड़ा गये। उसने निराशा से लौटकर देखा—"तू"—पहचाना और सान्त्वना का सांस भर उसने बाहें फैला दीं।

तिलोकसिंह ने उसे कोहनी के ऊपर बांह से पकड़ कर जोर से झिंझोड़ा और दांत से होंठ काटते हुए धमकाया। "और छका ले···और भाग ?"

दोनों के दिल धक-धक कर रहे थे। दोनों हांफ रहे थे। दोनों

की आंखें फैली हुई थीं; एक की क्रोध और उत्तेजना से दूसरे की भय और कातरता से। नाजू तिलोकसिंह के कंधे पर लुढ़क उससे लिपट गयी–"मैं तो तेरी हूं।"–उसने आंखें मूंदलीं।

तिलोकसिंह ने हाथ की तलवार नीचे पटक दी और नाजू का दोनों बाहों से पकड़ घिंघारू के कांटों से परे एक ओर घसीटकर गिरा दिया। नाजू उससे और भी चिपटती जा रही थी। तिलोकसिंक की इस निर्दयता से उसे संतोष और सुख मिल रहा था। वह इसे प्यार का अधिकार समझ रही थी और समझ रही थी कि वह रक्षा का अधिकार पा रही है।

नाजू ने आखें खोली तो बाहें तिलोकसिंह के गले में डाल अनुरोध किया—"मुझे देस ले चल।"

"हूं"—अपने को सम्भालते हुए तिलोकसिंह ने उत्तर दिया।

उसी समय घिंघारू की झाड़ियों की ओट से भीड़ की आहट फिर सुनायी दी और झाड़ियों के ऊपर से लोगों के सिर भी दिखायी दिये।

रसूले का घर और परिवार समाप्त करके भी जब नाजू और रसूले का सोलह बरस का लड़का रहमत न मिले तो भीड़ के कुछ लोग इन्हें खोजते हुए इधर आ निकले थे।

"यह है मादर···मुसल्टी" !–अपने को सम्भालते हुए तिलोकसिंह ने भीड़ की ओर घूम कर पुकारा।

"हाय, मैं तेरी हूं! मैं हिन्दू हूँ!"–नाजू तिलोकसिंह की कमर से लिपट कातरता से पुकार उठी—"मुझे बचा!"

पुकार सुन लोग उस ओर आ गये। नाजू छिपने के लिये एक झाड़ी के पीछे दौड़ी। तिलोकसिंह ने लपक कर उसकी बांह पकड़ ली और भीड़ को सम्बोधन किया—"सब लोग इस हराम जादी पर······"

नन्दलाल और तारू ने नाजू को दोनों बाहों से थाम लिया।

तारू बाजार का ही लड़का था। उसे पहचान नाजू ने हाथ जोड़ गिड़गिड़ाया—"दाजू (बड़े भाई), मैं तेरी बहिन हूं!······मैं हिन्दू हो गयी!"

उन लोगों के बीच हाय-हाय करती और सिसकती नाजू का शरीर अव्यवस्थित और खुला पड़ा था। वह अपने आपको सम्भाल सकने में भी असमर्थ थी।

"अब खतम करो इस हरामजादी को !"—कोई बोला।

नौजवानों के क्रोध की आग उनका पौरुष व्यय हो जाने से धीमी पड़ गयी थी। तिलोकसिंह के हाथ से जमीन पर पटकी हुई तलवार कई लोगों के पांव की ठोकरों से झाड़ियों के बीच और घनी घास में जाने कहां छिप गयी थी। तिलोकसिंह और दूसरे लोगों ने तलवार के लिये इधर उधर आंखें दौड़ायीं, पांव से टटोला। तलवार मिली नहीं ।

तिलोकसिंह ने जेब में पड़ा छोटा चाकू निकाल लिया और नाजू पर झपटा । तिलोकसिंह को चाकू लिये अपने ऊपर झुकते देख नाजू बचाव के लिये दोनों हाथ बढ़ा चीख उठी—"हाय ना ! मैं हिन्दू…"

तिलोकसिंह ने नाजू के रक्षा के लिये बढ़े हाथों को बायें हाथ से एक ओर झटक उसे नीचे से पेट तक फाड़ देने के लिये चाकू चला दिया। नाजू "हा !" चीख चुप हो गयी। चाकू छोटा और भौंतरा होने के कारण अधिक काट न कर सका। भीड़ उसे खतम हो गया जान गाली देती हुई लौट गयी।

× × ×

बड़ौरी और पड़ोस के देहात के कांग्रेसी लोगों को अपनी बस्ती में ऐसा अत्याचार हो जाना सह्य नहीं था। दंगे की खबर पाते ही उन्होंने सरपंच, मुखिया और पटवारी को बुलवा घायलों को ढूंढ़ना शुरू किया। बाजार के जो लोग पहले 'मुशल्टों को मारो !' चिल्ला रहे थे, अब लज्जित हो सहायता के लिये आ जुटे। जले हुए मकानों पर भी पहरा लगा दिया गया कि अब किसी का और नुकसान न हो। बशीर जख्मी हो कर बेहोश हो गया था परन्तु प्राण शेष थे। ऐसी ही हालत नजीर लुहार की थी। नाजू भी लालटैनों और मशालों की सहायता से क्षत-विक्षत हालत में कराहती हुई ढूंढ़ ली गयी। कांग्रेस के लोगों ने इन ज़ख्मियों को डोलियों में लाद अपने कंधों पर मीलों दूर बागेश्वर के अस्पताल में

पहुँचाया। मुर्दे, जाँच पड़ताल के बाद दफनाये जाने के लिये एक जगह इकट्ठे कर दिये गये।

कांग्रेसी राज में ऐसी दुर्घटना हो जाने के कारण कांग्रेसी दुखी और लज्जित थे। उनकी नजर में हिन्दू, मुसलमान की पहचान नहीं, आदमी की पहचान थी। वे चाहते थे, अपराधियों को पूरा दंड मिले, न्याय हो! फिर ऐसी घटना न हो सके। दुनिया देख ले, कांग्रेसीराज हिन्दुओं का नहीं, न्याय का है। सरकार भी बहुत चौकसी से मामले की जांच कर रही थी। बडौरी में पुलिस और सशस्त्र-पुलिस के पड़ाव पड़ गये। कांग्रेसी लोग जनता को न्याय के लिये पुकार अपराधियों और संदिग्ध लोगों को गिरफ्तार करवा रहे थे। बाज़ार के दस आदमियों के साथ चार पंजाबी शरणार्थी तिलोकसिंह; बचीसिंह और स्कूल के चार और लड़के भी गिरफ्तार कर लिये गये।

तिलोकसिंह के पिता जोधसिंह ने खबर सुनी तो उसके पांव तले से धरती निकल गयी। सभी ने समझाया कि मामला संगीन है। सरकार सख्ती से काम ले रही है। पुलिस को खिलाने-पिलाने से कुछ नहीं बनेगा। बचने का एक ही उपाय है कि तिलोकसिंह सच-सच कह कर क्षमा मांग ले और सरकारी गवाह बन जाये।

पुलिस ने अपराधियों को डरा कर भेद लेने के लिये अलग-अलग बन्द कर दिया था। सभी को बताया गया कि जख्मियों के बयान से और दूसरे लोगों के बयान से सब बात पता लग चुकी है। तिलोकसिंह को फांसी और कालेपानी का डर दिखाया गया। उसके पिता ने रो-रो कर उसे समझाया और तिलोकसिंह ने अपने प्राण बचाने के लिये सब बक दिया। पुलिस के खोद-खोद कर पूछने पर उसने उबैद के कत्ल में सहयोग, बशीर को तलवार से बेधने और नाजू के साथ दुर्व्यवहार कर उसे नीचे से काटकर कत्ल कर देने का अपराध भी स्वीकार कर लिया। उसे आशा थी सच बोल देने से बच जायगा।

मामले की तहकीकात में महीनों लग गये। जख्मियों के अदालत में आने योग्य हुए बिना गवाही के लिये लाया नहीं जा सकता था। मुकद्दमा आरम्भ होने पर जब सब लोगों को एक साथ अदा-

लत में लाया गया तो पता चला कि बयान केवल तिलोकसिंह ने दिया था। लोग उसकी लानत-मलामत करने लगे—"……मरेगा तो एक ही बार ? फिर किये-किराये धर्म और बहादुरी पर पानी फेर कर मुंह काला करवाता है ?"

यह भी पता चला कि बयान केवल बशीर और नजीर के ही हैं और पूरा मुकद्दमा तिलोकसिंह के इकबाल (अपराध स्वीकृत) पर ही खड़ा है। मालूम हुआ कि नाजू इतनी डरी और सहमी हुई है कि उसने कोई बयान दिया ही नहीं। तिलोकसिंह अपने बयान से पलट गया इसीलिये हमारे वकील साहब की मुकद्दमे में जरूरत पड़ी। वकील साहब ने भी मामला देखकर गवाही कच्ची बतायी और तिलोकसिंह को छुड़ा लेने का विश्वास दिला दिया।

इस बीच पता लगा कि नाजू केवल ठीक ही नहीं हो गयी बल्कि उसके शरीर में एक और जान आ गयी है। बाप ने माथा ठोंक लिया। जैसे तैसे नाजू का निकाह सोमेश्वर के एक लुहार के लड़के से करा दिया गया। बयान देने के लिये नाजू पर बिरादरी और पुलिस का बहुत जोर पड़ रहा था क्योंकि तिलोकसिंह के पलट जाने से मुकद्दमे के पांव ही कट गये थे। बिरादरी के लोगों ने नाजू को फटकारा—अपनी कौम और जात पर जुल्म करने वाले काफ़िर को बचायगी ?……तुझे अल्ला दोजख में भी माफ़ नहीं करेगा। नाजू ने मजिस्ट्रेट के सामने अपना बयान दे दिया।

उत्साही हिन्दू भाइयों के यत्न से पुलिस की गवाहियां जम नहीं पा रही थी। कुछ गवाह उखड़ गये, कुछ जिरह में कट गये। बहुत से अभियुक्त मजिस्ट्रेट के यहां से ही बरी हो गये। तिलोकसिंह, नन्दलाल, बच्चीसिंह और तारू का मामला सेशन सुपुर्द कर दिया गया परन्तु संगठित आक्रमण के षड्यंत्र के लिये नहीं, अभियुक्तों पर अलग-अलग अपराध के लिये।

पिछले दिन सेशन में संध्या समय तिलोकसिंह के मामले के मुख्य गवाहों बशीर और नाजू के बयान हुए थे। बशीर के बयान का मूल्य नाजू की गवाही के बिना कुछ नहीं था। नाजू चादर ओढ़े आंख नीची किये बयान दिये जा रही थी। वह बाप के शरीर में तलवार भोंकती देख अपनी जान बचाने के लिये भाग कर पकड़ी

जाने, अपनी दुर्दशा और चाकू के आक्रमण से बेहोश हो जाने और अस्पताल पहुँचायी जाने तक की सब कहानी धीमे-धीमे कह गयी। वकील साहब को जान पड़ रहा था कि नाजू का प्रत्येक शब्द उनके अभियुक्त को अपराध की रस्सी से बांधे दे रहा है। कठघरे से चलते समय नाजू ने सिर्फ एक नजर तिलोकसिंह की ओर डाली। तिलोकसिंह का चेहरा फक था।

अगले दिन सफाई की ओर से जिरह थी। वकील साहब रात भर गवाही और जिरह के कानूनों और नजीरों का अध्ययन करते रहे। सुबह मानसिक उत्तेजना के कारण वे कुछ जल्दी ही अदालत आ गये थे और बरामदे के सामने धूप में कुर्सी पर बैठे बशीर और नाजू के बयानों को बारीकी से मिला कर उनमें असंगति ढूंढ़ रहे थे। नाजू भी पुकार की प्रतीक्षा में अदालत के अहाते में खुर्मानी के पेड़ के नीचे बैठी थी। उसका बच्चा भी गोद में था।

अभियुक्तों के आने पर अदालत का बरामदा बेड़ियों की खनखनाहट से गूंज उठा। वकील साहब की नजर अपने अभियुक्त की ओर गयी। तिलोकसिंह सिर झुकाये चला जा रहा था। वकील साहब ने घूम कर नाजू की ओर भी देखा, वह टकटकी लगाये तिलोकसिंह की ओर देख रही थी। वकील साहब को ऐसा मालूम हुआ कि क्रुद्ध बाघिन हाथ से निकले शिकार को घूर रही हो। उन्हें ऐसा मालूम होता भी क्यों न ? इसी चुटियाई और बफरी हुई बाघिन के पंजे से उन्हें तिलोकसिंह को बचाना था।

वकील साहब ने जिरह में बशीर को काफी परेशान किया था और अदालत को इस परिणाम पर पहुँचा दिया था कि घटना के समय वह बदहवासी की हालत में था। उसके बयान की सचाई का प्रमाण क्या ? उन्होंने मन में सोच रखा था कि बशीर के बयान की गवाही है नाजू, उसी की लड़की। वे अदालत को समझायेंगे कि बेटी तो बाप की सी कहेगी ही ! कोई और भी तो प्रमाण होना चाहिये।

नाजू को जिरह के लिए कठघरे में पुकारा गया। वकील साहब को फिर जान पड़ा कि नाजू ने तिलोकसिंह को उड़ती-उड़ती नज़रों से देखा। वह शान्त और बेपरवाह दिखायी दे रही थी,

जैसे बिल्ली शिकार को पंजे के नीचे सुरक्षित समझ निश्चिन्त हो जाती है।

"तुम बशीर दर्जी की लड़की हो न?"—वकील साहब ने पूछा

"हां"—नाजू ने ठोड़ी झुका हामी भरी।

"तुमने तहकीकात के समय पुलिस या मैजिस्ट्रेट के सामने बयान दिया था?"

"नहीं"—नाजू ने इनकार में सिर हिला दिया।

"क्यों, क्या डर था किसी का?"

"नहीं"

"तो बयान क्यों नहीं दिया?"

"ऐसे ही"

"तो अब बयान कैसे दे रही हो?"

"लोग नहीं मानते तो क्या करूं?"

वकील साहब ने अदालत की ओर देखा। अदालत ने नाजू की ओर। नाजू ने आँखें झुका लीं। वकील साहब ने कनपटी खुजा कर कुछ सोचा और प्रश्न किया—"इसका मतलब है तुम पर बयान देने के लिए ज़ोर डाला गया है?"

"हां तो"–नाजू ने हामी भरी।

"किसने जोर डाला है? पुलिस ने?"

"और क्या—"बाप और बिरादरी के लोगों ने भी?" उसने हामी भरी।

"हूँ"—नाजू ने सिर झुका स्वीकार किया।

"वकील साहब ऐसे हैरान थे जैसे उन्हों ने आत्मरक्षा में प्रहार के लिये हाथ उठाया हो परन्तु देखा कि उन्हें सहारा मिल रहा है। जल्दबाजी न करने के लिये उन्होंने कनपटी को खुजाया और धीमे से प्रश्न किया—"तुम तिलोकसिंह को बहुत दिन से पहचानती हो न?"

"नहीं"—नाजू ने इनकार में सिर हिला दिया।

"अच्छा अब तो खूब पहचानती हो न ?"

नाजू कुछ झिझकी और फिर इनकार में सिर हिला दिया—"नहीं।"

वकील साहब ने देखा कि जज साहब के माथे पर सिकुड़न पड़ गये। वकील साहब ने फिर नाजू को सम्बोधन किया—"बडौरी के बाजार के आदमियों लक्खी साह जी, तारादत्त, मसूद को तुम पहचानती थी ?

"हां"—नाजू ने हामी भरी

"अब भी सामने आयें तो पहचान लोगी ?"

नाजू ने फिर सिर झुकाकार हामी भरी।

वकील साहब ने संतोष का लम्बा सांस लेकर अदालत को धन्यवाद दिया और बोले उन्हें और कुछ जिरह नहीं करनी, न सफाई की ओर से कोई गवाह पेश कर वे अदालत का समय लेना चाहते हैं। नाजू को कठघरे से बाहर जाने की छुट्टी दे दी गयी। तिलोकसिंह का बाप दंगे के दिन तिलोकसिंह के 'बडौरी' में न होने की गवाही मैजिस्ट्रेटी में पेश कर चुका था परन्तु वकील साहब ने उसकी भी जरूरत न समझी।

इसके बाद सरकारी वकील बोले और सफाई के वकील भी कुछ बोले परन्तु जज के माथे पर बढ़ती जाती सिकुड़नों से जान पड़ रहा था कि समय व्यर्थ नष्ट किया जा रहा है। उन्होंने असेसरों की राय ली। असेसरों में केवल एक मुसलमान था। गवाही को देखते उसने भी अभियुक्त के निर्दोष होने की ही राय दी। जज साहब भीतर चले गये। मालूम हुआ कि फैसला अभी दे दिया जायगा।

वकील साहब तिलोकसिंह के बाप को एक ओर बुला कर आहिस्ता से बोले—"तुम बेशक लड़के की बेड़ी यहां ही कटाने के लिये एक लुहार बुला लो।" जोधसिंह की आंखों में कृतज्ञता के आंसू छलक आये। वह वकील साहब के पांव छू लेने को झुक गया।

जज साहब ने फैसले में पुलिस की धांदली की निन्दा कर

तिलोकसिंह को तुरन्त छोड़ दिये जाने का हुक्म दे दिया। वकील साहब तिलोकसिंह के कंधे पर हाथ रखे उसे बराम्दे में से लिवाये लिये जा रहे थे तब फिर उनकी निगाह सामने पेड़ के नीचे गयी।

नाजू अपने बच्चे को गोद में लिये बशीर और एक दूसरे आदमी के साथ वहाँ ही खड़ी थी। शायद जज साहब के फैसला लिखने में व्यस्त हो जाने के कारण उसके खुराकी-खर्च के कागज पर दस्तखत नहीं हो सके थे। वह अब भी टकटकी बांधे तिलोक-सिंह की ओर देख रही थी। तिलोकसिंह की नज़र भी उस ओर गई। नाजू ने गोद के बच्चे को उसे दिखाने के लिये बढ़ाकर चूम लिया और मुस्करा दी।

वकील साहब के पांव डगमगा गये। तिलोकसिंह की ओर देखा, उसकी आँखें छलक आयी थीं और सिर झुक गया।

"हिन्दू इस जीत से खुश थे। पुलिस दांत पीस, खिसिया कर रह गयी; परन्तु जानते हो तीन महीने बाद आज क्या देखा?"—वकील साहब ने मेरी बांह पर हाथ धर कर पूछा—"आज दोपहर तिलोकसिंह को अस्पताल के पास देखा। उसका बाप उसे डांडी (डोली) पर लिये था। मुझे देख उसकी आँखों में आँसू आ गये। बोला—"साहब, जाने इसे क्या हो गया है? भूख ही नहीं लगती, बुखार सा रहता है। डाक्टर को दिखाया, उसने तपेदिक बता दिया है। हुजूर, मैं तो बरबाद हो गया। इसका तो मन मर गया है। जाने भाग में क्या बदा है?"

वकील साहब एक लम्बा सांस ले बोले—"इसे किसकी जीत कहा जाये? हिन्दू की जीत, मुसलमान की जीत या न्याय की जीत?......नाजू हिन्दू नहीं, इस्लाम को नहीं जानती, अहिंसा और उदारता नहीं समझती, उस हिन्दू राज और मुस्लिम राज का भेद नहीं मालूम। वह औरत है, प्यार करना जानती है और प्यार में क्षमा करना जानती है......उसे कौन हरायेगा? कितना हार कर भी वह जीत गई?"

लेखक की रचनाओं के सम्बन्ध में कुछ प्रमुख सम्मतियाँ—

× × ×

कहानी संग्रहों के विषय में :—

नेशनल हैरल्ड, जून १६४०

"यह कहानियाँ संसार की किसी भी भाषा की श्रेष्ठ कहानियों के संग्रह में ऊँचा स्थान पाने योग्य हैं ।"

कविवर मैथिलीशरण गुप्त

"विधाता ने लेखक को मुक्तहस्त होकर प्रतिभा और शक्ति दी है…हिन्दी कथा साहित्य अभी तक लेना ही रहा, राम कृपा से अब वह देने योग्य भी हो गया है । यह शक्ति हिंदी को ऐसी ही रचनाओं से मिल रही है……।"

उपन्यासों के विषय में :—

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

"यशपाल की परतूलिका स्थायी मूल्य की चीज़ों के लिए है… 'देशद्रोही' संसार की उन्नत भाषाओं के उपन्यासों की तुलना में रखी जा सकती है

आजकल' दिसम्बर १६४६ :—

'मनुष्य के रूप'—"उपन्यास वास्तविकता, कल्पना और उद्देश्यपरकता का अपूर्व मिलान है"

हिन्दुस्तान—नयी दिल्ली (जून १६४६)

"मतविरोध होने पर भी लेखक की कला का लोहा मानना ही पड़ता है………।"

राजनैतिक निबन्धों के विषय में :—

आचार्य नरेन्द्रदेव. वाइस चांसलर, लखनऊ विश्वविद्यालय

"इन लेखों को पढ़कर आपके होठों पर जो मुस्कराहट आयेगा वह आत्मविस्मृति और आनन्दोल्लास की न होकर क्षोभ, परिताप और करुणा की होगी……। लेखक आत्मविस्मृत समाज को कलम की नोक से गुदगुदा कर जगाने की चेष्टा करता है और समाज को जागते न देख कभी कलम की नोक समाज के शरीर में गड़ा भी देता है ।

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

'गांधीवाद की शव परीक्षा'—इस वर्ष की सर्वोत्तम और सर्वोपयोगी पुस्तक है…'

श्री यशपाल की अन्य पुस्तकें—

यशपाल के क्रान्तिकारी जीवन की आत्मकथा :—

सिंहावलोकन—प्रथम भाग (साण्डर्सवध, असेम्बली-बमकांड और लाहौर बम फैक्टरी की कहानी) ४॥)

सिंहावलोकन—दूसरा भाग (वायसराय की ट्रेन के नीचे बम-विस्फोट, लाहौर जेल पर आक्रमण की तैयारी, बहावलपुर रोड बमकेस, अतिशीचक्कर) मू० ५॥)

उपन्यास

१—मनुष्य के रूप ६)
२—पक्का कदम ४)
३—देशद्रोही ४॥)
४—दिव्या ४)
५—पार्टी कामरेड २)
६—दादाकामरेड २॥)

कहानी संग्रह

१—अभिशप्त २) २—वो दुनिया २) ३—ज्ञानदान २)
४—पिंजरे की उड़ान २॥) ५—तर्क का तूफ़ान २॥)
६—भस्मावृत्त चिन्गारी २) ७—फूलो का कुर्त्ता २)
८—धर्मयुद्ध २) ९—उत्तराधिकारी २) १०—चित्र का शीर्षक २)

नाटक

नशे नशे की बात ! २॥)

राजनैतिक निबन्ध

मार्क्सवाद ३)

चक्करक्लब २) न्याय का संघर्ष २)

बात-बात में बात २॥)

रामराज्य की कथा २) देखा, सोचा, समझा ! २॥)

शोषक श्रेणी के प्रपंच या गांधीवाद की शव परीक्षा २॥)

विप्लव कार्यालय, लखनऊ